Shree Nisargadatta Samadhi Charitable Trust, Mumbai
श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरिटेबल ट्रस्ट, मुंबई द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक

NISARGAVAANI
निसर्गवाणी ನಿಸರ್ಗವಾಣಿ નિસર્ગવાની

वर्ष २ रे अंक : ६ वा (ऑक्टोबर ते डिसेंबर २०२६) Year 2nd Issue 6th (October - December 2026)



तो चालतें ज्ञानाचे बिंब।
तयाचे अवयव ते सुखाचे कोंभ।
माणूसपणाची भांब। लोकांसी भागू।।

सद्गुरू श्री गुरूदेव रानडे
Sadguru Shri Gurudev Ranade

संपादक

डॉ. धीरज सर्वज्ञ : +91 9881314214

विजया नाझरे : +91 9403707936 **स्मिता थोरात : +91 8698863395**

तुषार नाईक : +91 8369105437 / 982188356

मुखपृष्ठ रचना: भरतभाई शिंपी, जळगाव

लेआउट डिजाइन

झेन प्रकाशन, मुंबई (निसर्गवानी टीम इनपुट अनुसार)

वेबसाईट: www.nisargdattasamadhi.in

ईमेल: nisargadattasamadhitrust2025@gmail.com

लेखों के लिए अपील

चूँकि कोई भी पत्रिका संभावित लेखकों के लेखों पर निर्भर करती है, हम आप सभी से हमें लेख भेजने की अपील करते हैं। आत्मज्ञान सभी धर्मों, जाति और पंथ से परे है। इस पहलू को याद करते हुए निसर्गवाणी में न केवल श्री निसर्गदत्त महाराज द्वारा वर्णित आत्म-ज्ञान से संबंधित विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला होगी, बल्कि विभिन्न संतों की आत्म-ज्ञान की शिक्षाएं, उनके तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, जीवनी, शिक्षाएं, अन्य आध्यात्मिक गुरुओं द्वारा सिखाए गए तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, हिंदू धर्म के अलावा अन्य धर्मों की शिक्षाएं और कहानियां, पवित्र ग्रंथों और छंदों की व्याख्या, आध्यात्मिक यात्रा और अंतर्दृष्टि, कविता और निश्चित रूप से हमारे योग्य पाठकों से प्रतिक्रिया भी शामिल होगी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिकता का अपने आप में एक व्यापक और विविध आवरण पहलू है।

सुझाव

एक दिशानिर्देश के रूप में, हम अनुरोध करते हैं कि जहां तक संभव हो लेख छोटे (लगभग 750 शब्द) मध्यम (लगभग 1500 शब्द) या लंबे प्रारूप (लगभग 2300 शब्द) में होने चाहिए

कृपया अपना योगदान भेजें

through email to

nisargavaani240125@gmail.com

संपादकीय

इंचगेरी संप्रदाय के प्रति श्री गुरुदेव रानडे का महान योगदान

जब हम भारतीय आध्यात्मिक परंपरा के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो एक खास विशेषता विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है: उसका विकास केवल शास्त्र-रचना, दार्शनिक चिंतन या धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से नहीं हुआ है, बल्कि वह उन संतों के जीवन के द्वारा आगे बढ़ा है जिन्होंने प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त की, तथा उन शिष्य-परंपराओं के माध्यम से जिन्होंने उनके मार्ग का अनुसरण किया। महाराष्ट्र, कर्नाटक और दक्षिण भारत के सांस्कृतिक परिवेश में विकसित हुई निम्बर्गी अथवा इंचगेरी संप्रदाय ऐसी ही एक अनुभूति-प्रधान आध्यात्मिक परंपरा है। इस परंपरा के आधुनिक इतिहास में श्री निम्बर्गी महाराज, श्री भाऊसाहेब महाराज उमदीकर, श्री अंबुराव महाराज, श्री सिद्धरामेश्वर महाराज और श्री निसर्गदत्त महाराज के साथ-साथ श्री गुरुदेव रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे का स्थान विशेष रूप से विशिष्ट है। गुरुदेव रानडे ने केवल इस परंपरा की आध्यात्मिक विरासत को ग्रहण ही नहीं किया, बल्कि दर्शन, संत-साहित्य, तुलनात्मक धर्म-अध्ययन, आधुनिक बौद्धिक चिंतन तथा अनुभव-आधारित अध्यात्म का समन्वय करके उसे असाधारण रूप से समृद्ध भी किया। इसलिए उनके योगदान को केवल किसी एक आध्यात्मिक परंपरा या गुरु-शिष्य वंश की ऐतिहासिक कड़ी के रूप में देखना पर्याप्त नहीं होगा। बल्कि उसे आधुनिक भारतीय आध्यात्मिक चिंतन के इतिहास के एक महत्वपूर्ण अध्याय के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

निंबर्गी परंपरा की पृष्ठभूमि को समझे बिना, गुरुदेव रानडे के काम के महत्व को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता। इस परंपरा की शुरुआत श्री निंबार्गी महाराज के आध्यात्मिक जीवन से गहराई से जुड़ी है। बाद में, श्री भाऊसाहेब महाराज उमदिकर ने इंचगेरी को इस आध्यात्मिक मार्ग का एक महत्वपूर्ण केंद्र बनाया। इसलिए, समय

के साथ, यह परंपरा 'इंचगेरी संप्रदाय' के नाम से भी जानी जाने लगी। इस परंपरा की आध्यात्मिक साधना बाहरी रीति-रिवाजों के बजाय आंतरिक बदलाव पर ज़्यादा ज़ोर देती है। सद्गुरु से मिले 'नाम' के निरंतर स्मरण, ध्यान और सद्गुरु के चरणों में पूर्ण समर्पण के माध्यम से, साधक को 'आत्म-साक्षात्कार' की ओर ले जाया जाता है, जो इस मार्ग का मुख्य उद्देश्य है।

श्री गुरुदेव रानडे का जन्म 3 जुलाई 1886 को कर्नाटक के जमखंडी में हुआ था। कम उम्र से ही उनमें असाधारण बौद्धिक क्षमता और आध्यात्मिक विषयों के प्रति गहरी जिज्ञासा दिखाई दी। उन्होंने आगे उच्च शिक्षा प्राप्त की और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित विद्वान के रूप में उभरे। फिर भी, युवावस्था में हुए आध्यात्मिक जागरण ने ही उनके जीवन को एक विशिष्ट दिशा दी।

25 नवंबर 1901 को उन्हें श्री भाऊसाहेब महाराज उमदीकर से आध्यात्मिक दीक्षा मिली। यह केवल एक धार्मिक रस्म से कहीं बढ़कर था; इसने एक ऐसी आध्यात्मिक यात्रा की शुरुआत की जिसने उनके बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन की दिशा को गहराई से प्रभावित किया। इसके बाद हुए आध्यात्मिक अनुभवों और उनके दार्शनिक आधार को समझने की गहरी इच्छा ने उन्हें दर्शनशास्त्र के गंभीर और व्यवस्थित अध्ययन की ओर प्रेरित किया। मराठी विश्वकोश में गुरुदेव रानडे के बारे में दी गई जानकारी के अनुसार, श्री भाऊसाहेब महाराज की आध्यात्मिक परंपरा में शामिल होने के बाद उन्हें गहरे आध्यात्मिक अनुभव होने लगे। इन अनुभवों के दार्शनिक आधार को समझने की कोशिश में उन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन शुरू किया। इससे उनके पूरे जीवन और कार्यों के मूल सिद्धांतों में से एक का पता चलता है: गुरुदेव रानडे के लिए दर्शनशास्त्र केवल बौद्धिक खोज या तर्क-वितर्क का विषय नहीं था; बल्कि यह आध्यात्मिक अनुभव को समझने, उसे व्यक्त करने और उसे दार्शनिक रूप देने का एक माध्यम था।

श्री गुरुदेव रानडे के दाहरणा ्व की सबसे विशिष्ट विशेषता उनके भीतर विद्वान और आध्यात्मिक साधक का अद्वितीय एवं गहन समन्वय था। यद्यपि वे विश्वविद्यालय-शिक्षित प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान तथा एक कुशल विश्वविद्यालय प्रशासक थे, फिर भी उन्होंने अध्यात्म को केवल अकादमिक अध्ययन का विषय नहीं माना। उन्होंने स्वयं आध्यात्मिक साधना का मार्ग अपनाया, प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया, और तत्पश्चात उन अनुभूतियों के दार्शनिक महत्व को समझने तथा अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। फलस्वरूप, उनके चिंतन

में कठोर दार्शनिक अनुसंधान और आध्यात्मिक साक्षात्कार से उत्पन्न आंतरिक प्रकाश का अद्भुत सामंजस्य दिखाई देता है। उनके अनुसार आध्यात्मिक अनुभव तर्क के विरोध में नहीं है; बल्कि वह ज्ञान के एक ऐसे अन्य आयाम का उद्घाटन करता है, जिसके माध्यम से दर्शन के कुछ मूलभूत प्रश्नों को अधिक गहराई और व्यापकता के साथ समझा जा सकता है। यही उनकी विशिष्ट दृष्टि थी, जिसने उन्हें भारतीय अध्यात्म को ऐसी भाषा और शैली में प्रस्तुत करने में सक्षम बनाया जो आधुनिक बौद्धिक जगत के साथ सार्थक संवाद स्थापित कर सके, और साथ ही भारतीय आध्यात्मिक चिंतन की अनुभूति-प्रधान परंपरा में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित भी रहे।

इंचगेरी परंपरा की साधना-पद्धति में गुरुतत्त्व का स्थान अत्यंत केंद्रीय और महत्वपूर्ण है। गुरुदेव रानडे के आध्यात्मिक जीवन पर श्री भाऊसाहेब महाराज का निर्णायक प्रभाव पड़ा। उनके जीवन में यह समझ गहराई से स्थापित थी कि गुरु केवल उपदेश देने वाला शिक्षक नहीं है, बल्कि वह सद्गुरु है जो साधक को आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाने वाली आंतरिक यात्रा में मार्गदर्शन प्रदान करता है।

किन्तु गुरुदेव रानडे की गुरु-भक्ति अंधानुकरण या बिना विचार किए स्वीकार करने वाली श्रद्धा नहीं थी। उनकी गुरुभक्ति का मूल सार गुरु द्वारा बताए गए मार्ग का ईमानदारीपूर्वक अभ्यास करना और उस साधना के माध्यम से सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना था। इस प्रकार उन्होंने इंचगेरी परंपरा में गुरु-शिष्य संबंध को आध्यात्मिक अनुसंधान और सत्यापन की एक जीवंत प्रक्रिया का स्वरूप प्रदान किया।

उनकी दृष्टि यह थी कि गुरु द्वारा प्रदान की गई साधना का स्वयं अभ्यास किया जाए, उसके प्रभावों को अपने अंतःकरण में परखा जाए, और फिर प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार किया जाए। इस प्रकार श्रद्धा और अनुभव, दोनों का समन्वय उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण की विशेष पहचान बन गया।

इंचगेरी परंपरा के दार्शनिक स्वरूप का वर्णन करते हुए, परंपरा के अभिलेखों के अनुसार, गुरुदेव रानाडे ने इसे 'स्वरूप संप्रदाय' कहा है। स्वरूप का अर्थ है अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का साक्षात्कार। इस दृष्टि से आध्यात्मिक साधना का परम उद्देश्य बाह्य जगत में किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं, बल्कि अपने ही अंतःकरण में स्थित परम सत्य का दर्शन और अनुभव करना है। यह समझ उपनिषदों की परंपरा, संत-परंपरा और इंचगेरी संप्रदाय के बीच एक गहरे आंतरिक संबंध को प्रकट करती है। गुरुदेव रानाडे ने प्राचीन ऋषियों-जैसे नारद और याज्ञवल्क्य – से लेकर संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, कबीर, गुरु नानक और निम्बर्गी महाराज तक की परंपरा

में एक मूलभूत आध्यात्मिक सूत्र को पहचाना, जिसे उन्होंने स्वरूप-दर्शन अर्थात् अपने वास्तविक आत्मस्वरूप की अनुभूति के रूप में देखा। इस प्रकार उन्होंने इंचगेरी संप्रदाय को किसी संकीर्ण या सीमित पंथ के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे भारत की दीर्घकालिक और अखंड आत्मसाक्षात्कार-परंपरा की एक आधुनिक अभिव्यक्ति के रूप में समझाया। उनके अनुसार, यह परंपरा उसी सनातन आध्यात्मिक धारा का जीवंत रूप है, जिसका लक्ष्य मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव तक पहुँचाना है।

गुरुदेव रानडे के योगदान का एक और बहुत महत्वपूर्ण पहलू 'नाम-स्मरण' और ध्यान के अभ्यास के दार्शनिक महत्व को समझाना था। इंचगेरी परंपरा में, सद्गुरु से मिला 'नाम' केवल दोहराने के लिए कोई शब्द नहीं है; यह साधक की चेतना को परम सत्य से जोड़ने का एक माध्यम है। मन लगातार बाहरी चीज़ों की ओर खिंचा चला जाता है। इच्छाएं, मोह, लालच, अहंकार और मन की बेचैनी मन को स्थिर नहीं होने देतीं। नाम-स्मरण और ध्यान के निरंतर अभ्यास से मन धीरे-धीरे भीतर की ओर मुड़ने लगता है।

यहीं पर गुरुदेव रानाडे की 'अनुभूति-आधारित अध्यात्म' (Experiential Spirituality) की दृष्टि विशेष महत्व ग्रहण करती है। उन्होंने अपने आध्यात्मिक चिंतन की नींव केवल दार्शनिक अवधारणाओं पर नहीं रखी। जिस सत्य का प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव संभव नहीं है, उसके विषय में केवल बौद्धिक अटकलों और तर्क-वितर्कों में उलझने के बजाय, वे इस बात पर बल देते थे कि साधक को आध्यात्मिक साधना का मार्ग अपनाकर उस सत्य का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। इसी कारण उनका अध्यात्म एक ओर श्रद्धा में निहित है, तो दूसरी ओर विवेकपूर्ण जिज्ञासा और आलोचनात्मक परीक्षण से भी निर्देशित है। उनके चिंतन में एक त्रिस्तरीय सिद्धांत स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है – श्रद्धा साधना को प्रेरित करती है, साधना प्रत्यक्ष अनुभूति तक पहुँचाती है, और प्रत्यक्ष अनुभूति दार्शनिक समझ का आधार प्रदान करती है। इस प्रकार उनके लिए दर्शन और अध्यात्म परस्पर विरोधी नहीं थे। दर्शन अनुभूति को समझने और अभिव्यक्त करने का माध्यम बनता है, जबकि अनुभूति दर्शन को जीवंत आधार प्रदान करती है। यही समन्वित दृष्टिकोण उनके विचारों को भारतीय आध्यात्मिक परंपरा तथा आधुनिक बौद्धिक चिंतन, दोनों के संदर्भ में विशिष्ट और महत्वपूर्ण बनाता है।

उनके योगदान का तीसरा, और संभवतः सबसे स्थायी आयाम, भारतीय संत-

साहित्य के उनके गहन अध्ययन में परिलक्षित होता है। गुरुदेव रानाडे ने मराठी, हिंदी और कन्नड़ संत-परंपराओं में उपलब्ध आध्यात्मिक अनुभूति के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, रामदास, एकनाथ, कबीर, गुरु नानक तथा अन्य संतों की रचनाओं में उन्होंने केवल भक्तिपरक साहित्य नहीं देखा, बल्कि उनके पीछे निहित गहन आध्यात्मिक अनुभव और विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि को उजागर किया। उनके अध्ययनों के माध्यम से संत-साहित्य केवल धर्मशास्त्रीय विचारों या भक्ति-गीतों तक सीमित न रहकर 'आध्यात्मिक अनुभूतियों के अभिलेख' (records of spiritual experience) के रूप में सामने आया। उन्होंने यह दिखाया कि संतों की वाणी और रचनाएँ केवल भावनात्मक अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि प्रत्यक्ष आध्यात्मिक साक्षात्कार से उत्पन्न अनुभवों की सजीव अभिव्यक्तियाँ हैं। मराठी विश्वकोश में उल्लिखित अनुसार, गुरुदेव रानडे ने उपनिषदों से लेकर मराठी, हिंदी और कन्नड़ संत-साहित्य तक फैली आत्मानुभूति की परंपरा का व्यापक सर्वेक्षण किया और उसके आधार पर अपना एक स्वतंत्र दार्शनिक दृष्टिकोण विकसित किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय संत-परंपरा को केवल सांस्कृतिक या धार्मिक विरासत के रूप में नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभव और दार्शनिक चिंतन के एक समृद्ध स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया।

इस कार्य का महत्व विशेष रूप से इंचगेरी संप्रदाय के संदर्भ में स्पष्ट होता है। किसी आध्यात्मिक परंपरा की निरंतरता के लिए केवल उसके गुरुओं के नाम और जीवन-चरित्र पर्याप्त नहीं होते; यह भी आवश्यक है कि आने वाली पीढ़ियाँ उस परंपरा के आधारभूत आध्यात्मिक दर्शन को समझें। गुरुदेव रानाडे ने यही कार्य अत्यंत सफलतापूर्वक संपन्न किया।

उन्होंने नाम-साधना, सद्गुरु-भक्ति, आत्म-साक्षात्कार तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव जैसी आध्यात्मिक साधनाओं को भारतीय दर्शन के व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्थापित किया। परिणामस्वरूप, इस परंपरा का आध्यात्मिक संदेश किसी एक विशेष संप्रदाय तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उपनिषदों, वेदान्त तथा भारतीय संत-परंपरा के साथ संवाद करता हुआ एक व्यापक आध्यात्मिक दृष्टिकोण बनकर उभरा।

यह व्यापक और समावेशी दृष्टिकोण इंचगिरी संप्रदाय की सामाजिक भावना में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस परंपरा की शिक्षाओं के अनुसार, आध्यात्मिक साधना का अधिकार किसी व्यक्ति के धर्म, जाति, दाहरणा , आर्थिक स्थिति, शैक्षणिक योग्यता या सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर निर्धारित नहीं होना चाहिए। आध्यात्मिक

साधना के लिए जो वास्तव में आवश्यक है, वह है – निष्कपटता, सदाचारी जीवन, सद्गुरु में श्रद्धा तथा निरंतर और समर्पित साधना-प्रयास।

गुरुदेव रानडे का कार्य केवल ग्रंथ-लेखन तक सीमित नहीं था। वे उच्च शिक्षा के दाहरणा में भी अत्यंत प्रभावशाली दाहरणा ्व थे। उन्होंने फर्ग्युसन कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया और बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभागाध्यक्ष, कला संकाय के अधिष्ठाता (डीन) तथा अंततः कुलपति के रूप में कार्य किया। अपने शैक्षणिक जीवन के माध्यम से उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक चिंतन को विश्वविद्यालयीय दर्शनशास्त्र के दाहरणा में गंभीर अध्ययन और विमर्श के योग्य विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सन् 1924 में उन्होंने पुणे में '**अकादमी ऑफ फिलॉसफी एंड रिलिजन**' की स्थापना की, जिसके माध्यम से विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। बाद के वर्षों में उन्होंने आध्यात्मिक एकता के व्यापक आदर्श से प्रेरित होकर आध्यात्मिक ज्ञान की साधना को एक संस्थागत स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया।

यहीं पर उनके योगदान का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष स्पष्ट रूप से सामने आता है—आध्यात्मिकता और आधुनिक शैक्षणिक विधाओं के बीच संवाद। एक ओर वे सद्गुरु-कृपा, नाम-साधना और प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित आध्यात्मिक परंपरा के साधक थे; दूसरी ओर वे आधुनिक विश्वविद्यालयीय दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। उन्होंने इन दोनों संसारों को परस्पर विरोधी नहीं माना। उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि भारतीय संतों के आध्यात्मिक अनुभवों का अध्ययन आधुनिक दर्शनशास्त्र के उपकरणों के माध्यम से किया जा सकता है, और आधुनिक शिक्षित मन भी आलोचनात्मक तथा अनुशासित चिंतन के द्वारा आध्यात्मिक अनुभव के निकट पहुँच सकता है। इस प्रकार उनका जीवन और कार्य भारतीय आध्यात्मिक परंपरा तथा आधुनिकता के बीच एक महत्वपूर्ण सेतु बन गया।

इंचगिरी संप्रदाय के दृष्टिकोण से गुरुदेव रानडे के कार्य का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम गुरु-शिष्य परंपरा का पोषण और उसका निरंतर संवहन था। श्री अंबूराव महाराज के महाप्रयाण के पश्चात् गुरुदेव रानडे ने साधकों को आध्यात्मिक मार्ग में दीक्षित करने का दायित्व संभाला। परंपरा में उपलब्ध अभिलेखों के अनुसार उन्होंने लगभग चार हजार साधकों को दीक्षा प्रदान की। इनमें महाराष्ट्र और कर्नाटक के शिक्षित एवं शहरी वर्ग के लोग भी थे, साथ ही ईसाई, मुस्लिम और जैन पृष्ठभूमि के कुछ साधक भी सम्मिलित थे। यद्यपि इस विवरण को उसके पारंपरिक स्रोत की प्रकृति

को ध्यान में रखते हुए देखा जाना चाहिए, तथापि एक तथ्य स्पष्ट है- गुरुदेव रानडे के आध्यात्मिक कार्य का विस्तार संकीर्ण सामाजिक सीमाओं से कहीं आगे तक था।

इस कार्य के माध्यम से गुरुदेव रानडे ने इंचगिरी संप्रदाय के लिए एक नया सामाजिक और बौद्धिक वातावरण निर्मित किया। ग्रामीण और पारंपरिक भक्तिपरक संस्कृति में निहित आध्यात्मिक मार्ग को शिक्षित शहरी वर्ग के साथ संवाद में लाना कोई सरल कार्य नहीं था। किंतु गुरुदेव के दाहरणा ्व में विद्वत्ता और साधना का जो दुर्लभ समन्वय था, उसके कारण वे इस कार्य को अत्यंत प्रभावी ढंग से सम्पन्न कर सके। आधुनिक शिक्षा से प्रभावित लोगों को आध्यात्मिकता का अर्थ और महत्त्व समझाते समय वे तर्क, दर्शन, मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि तथा संत-साहित्य का सहारा लेते थे; वहीं आध्यात्मिक साधकों का मार्गदर्शन करते समय वे नाम-साधना, ध्यान, सद्गुरु-भक्ति और आत्म-अन्वेषण के वास्तविक अभ्यास पर बल देते थे। यही द्विविध भूमिका उनके योगदान को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करती है।

गुरुदेव रानडे के लिए **ईश्वर-साक्षात्कार (देव-साक्षात्कार)** मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श था। किंतु यह साक्षात्कार संसार से पलायन का साधन नहीं था। गृहस्थ जीवन जीते हुए आध्यात्मिक साधना करने पर बल देने वाली इंचगिरी परंपरा के अनुरूप उनका व्यापक संदेश यह था कि मनुष्य को अपनी लौकिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए अपने अंतःजीवन को ईश्वर-केंद्रित बनाना चाहिए। अतः आध्यात्मिक साधना का अर्थ संसार का त्याग नहीं है।

इस संदर्भ में नैतिक शुद्धता गुरुदेव रानडे के चिंतन का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है। जैसे-जैसे साधक नाम-स्मरण और ध्यान का अभ्यास करता है, वैसे-वैसे उसके आचरण में भी परिवर्तन आना चाहिए। यदि लोभ, विषयासक्ति, स्वार्थ, अहंकार और दूसरों के प्रति असंवेदनशीलता कम नहीं होती, तो साधना अधूरी रह जाती है। इसी प्रकार इंचगिरी परंपरा की शिक्षाएँ भी इस बात पर बल देती हैं कि सद्गुरु के मार्गदर्शन में नाम-ध्यान की साधना लोभ और अनैतिक आसक्तियों से मुक्त जीवन के साथ जुड़ी होनी चाहिए।

गुरुदेव रानडे के कार्य की एक अन्य विशिष्टता यह थी कि उन्होंने भक्ति, ज्ञान और ध्यान के बीच कृत्रिम भेद नहीं खड़े किए। भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में भक्ति, ज्ञान और योग को कभी-कभी अलग-अलग मार्गों के रूप में देखा जाता है। किंतु रानडे के अनुभव-आधारित दृष्टिकोण के अनुसार इन सभी मार्गों की अंतर्निहित एकता है, क्योंकि उनका अंतिम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है। भक्ति साधक को समर्पण सिखाती

है; नाम मन को स्थिर और एकाग्र करता है; ध्यान उसे भीतर की ओर मोड़ता है; ज्ञान विवेक और भेदबुद्धि का विकास करता है; और आत्मानुभव इन सबका चरम फल है। उन्होंने इंचगिरी परंपरा की इस समन्वित साधना-पद्धति को एक व्यापक दार्शनिक रूपरेखा में प्रस्तुत किया।

उनके द्वारा रचित साहित्य उनकी सबसे स्थायी विरासत है। 'ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी', 'मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र', 'द भगवद्गीता ऐज़ अ फिलॉसफी ऑफ गॉड-रियलाइज़ेशन', 'पाथवे टू गॉड इन हिंदी लिटरेचर', 'पाथवे टू गॉड इन कन्नड़ लिटरेचर' तथा 'वेदान्त : द कल्मिनेशन ऑफ इंडियन थॉट' जैसे ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, रामदास, एकनाथ, कबीर, नानक तथा अन्य संतों के साहित्य पर भी अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित कीं।

उनकी मराठी रचनाओं में 'ज्ञानेश्वरवचनामृत', 'तुकारामवचनामृत', 'रामदासवचनामृत', 'संतवचनामृत' तथा 'परमार्थ-सोपान' जैसे ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन रचनाओं के माध्यम से गुरुदेव रानडे का योगदान दो विशिष्ट रूपों में महत्वपूर्ण बनता है। एक ओर उन्होंने इंचगिरी परंपरा में निहित आध्यात्मिक अनुभूतियों को दार्शनिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की; दूसरी ओर भारतीय संत-साहित्य के अध्ययन हेतु आने वाली पीढ़ियों के विद्वानों के लिए एक व्यापक संदर्भ-ढाँचा निर्मित किया। इस प्रकार उनका कार्य संप्रदाय के साधकों के लिए जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही भारतीय दर्शन, तुलनात्मक धर्म, संत-साहित्य और भारतीय आध्यात्मिक चिंतन के अध्येताओं के लिए भी।

वर्तमान युग में उनके कार्य का महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक मनुष्य के पास सूचनाओं की प्रचुरता है, किंतु आंतरिक शांति, मानसिक स्थिरता और जीवन के अंतिम अर्थ की गहन समझ का अभाव अनुभव किया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में गुरुदेव रानडे का संदेश अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है। बाह्य जगत का विकास आवश्यक है, किंतु उसके साथ-साथ अंतर्जगत का विकास भी उतना ही आवश्यक है।

गुरुदेव रानडे की विरासत को केवल उनके ग्रंथों, उनके शैक्षणिक पदों या उनकी समाधि के आधार पर नहीं समझा जा सकता। उनकी वास्तविक विरासत आध्यात्मिक साधना और दार्शनिक चिंतन के समन्वय में निहित है। उन्होंने दिखाया कि यदि किसी महान आध्यात्मिक परंपरा को जीवित रखना है, तो केवल उसके बाह्य रूपों को संरक्षित

करना पर्याप्त नहीं; उसके मूल में स्थित आंतरिक अनुभूति को भी समझना और सुरक्षित रखना आवश्यक है। गुरु-परंपरा केवल नामों का क्रम नहीं होती; वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जीवंत आध्यात्मिक अनुभूति का संप्रेषण है। इस दृष्टि से रानडे ने इंचगिरी परंपरा के आध्यात्मिक सार को संरक्षित करने, स्पष्ट करने और प्रसारित करने—इन तीनों स्तरों पर महत्वपूर्ण योगदान दिया।

श्री गुरुदेव रानडे का महाप्रयाण सन् 1957 में हुआ, किंतु उनका आध्यात्मिक और बौद्धिक कार्य उनके देहावसान के बाद भी गहरा प्रभाव डालता रहा। निम्बाल स्थित उनकी समाधि तथा उनकी स्मृति से जुड़े आध्यात्मिक उपक्रम आज भी परंपरा के साधकों के लिए महत्वपूर्ण हैं। उनकी विरासत का संरक्षण केवल भावनात्मक श्रद्धांजलि के माध्यम से नहीं, बल्कि उनके ग्रंथों के अध्ययन, उनके दार्शनिक चिंतन के गंभीर परीक्षण तथा उनके द्वारा प्रतिपादित अनुभव-आधारित साधना-पथ के गहन अभ्यास द्वारा अधिक सार्थक रूप में किया जा सकता है।

श्री गुरुदेव रानडे के संदेश का सार इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—ज्ञान केवल बुद्धि तक सीमित न रहे, भक्ति केवल भावना बनकर न रह जाए, और साधना केवल कर्मकाण्ड न बन जाए; इन तीनों का चरम फल आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होना चाहिए।

अंत में, श्री गुरुदेव रानडे को इंचगिरी संप्रदाय में एक अद्वितीय सेतु-निर्माता के रूप में देखा जा सकता है—परंपरा और आधुनिकता के बीच, साधना और दर्शन के बीच, भक्ति और विवेक के बीच, संत-साहित्य और आधुनिक अकादमिक अध्ययन के बीच, तथा व्यक्तिगत आत्मानुभूति और सार्वभौमिक आध्यात्मिकता के बीच। अतः उनके योगदान को केवल "इंचगिरी संप्रदाय के प्रचार" तक सीमित नहीं किया जा सकता। उन्होंने एक जीवंत आध्यात्मिक परंपरा को दार्शनिक गहराई, विद्वतापूर्ण प्रतिष्ठा, साहित्यिक अभिव्यक्ति और आधुनिक बौद्धिक जगत के साथ सार्थक संवाद करने की क्षमता प्रदान की।

|| जय सद्गुरु ||



श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरीटेबल ट्रस्ट

Nisargavaani

निसर्गवाणी ನಿಸರ್ಗವಾಣಿ **निसर्गबानी**

वर्ष २रा अंक: ६वा **अक्तूबर - दिसंबर २०२६**

विषय-सूची

प्रोफेसर गुरुदेव रानडे का संक्षिप्त जीवन-परिचय

जीन डन और निसर्गदत्त महाराज की खोज

गुरुदेव डॉ. आर. डी. रानडे : ईश्वर-साक्षात्कार के एक महान प्रचारक

गुरुदेव डॉ. आर. डी. रानडे के व्याख्यान तथा सार्वजनिक सहभागिताएँ

ज्ञानोबा की विराणियाँ और परमात्मस्वरूप की दृष्टि

पूज्य श्री गुरुदेव रानडे का आध्यात्मिक मार्ग

'वचनामृत': महाराष्ट्र के संत साहित्य-सागर के अमूल्य रत्न

प्रोफेसर गुरुदेव रानडे का संक्षिप्त जीवन-परिचय

प्रारंभिक जीवन और अपने गुरु से भेंट

उमदी, निंबरगी अथवा कन्नूर से अधिक दूर नहीं, लगभग निर्जन दाहरणा के मध्य स्थित है निंबाल आश्रम। स्वच्छ, पुनर्निर्मित और मनोहर यह आश्रम एक बड़े सभागार से युक्त है, जो चमकदार वार्निश किए हुए लकड़ी के द्वारों द्वारा दो भागों में विभाजित है। इन द्वारों के भीतर एक छोटा-सा पवित्र दाहरणा है, जहाँ गुरुदेव रानडे की समाधि स्थित है। वे श्री भाऊसाहेब महाराज के शिष्य तथा श्री सिद्धरामेश्वर महाराज के गुरुभाई थे।

गुरुदेव रानडे का जन्म 1886 में जामखंडी नगर में हुआ और 1957 में निंबाल में उनका महाप्रयाण हुआ। उनकी माता अत्यंत धार्मिक थीं, इसलिए बाल्यकाल से ही उनकी रुचि आध्यात्मिक विषयों में उत्पन्न हो गई। एक विद्यालयीन मित्र ने, जिसने उन्हें तैरना सीखते समय डूबने से बचाया था, उन्हें अपने गुरु के पास ले गया। वे गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज थे, जिन्होंने 1901 में, जब गुरुदेव मात्र पंद्रह वर्ष के थे, उन्हें मंत्र-दीक्षा प्रदान की। गुरुदेव रानाडे पर अपने गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज का गहरा आध्यात्मिक प्रभाव था, किंतु साथ ही श्री अंबुराव महाराज का भी, जो उनके सह-शिष्य थे तथा श्री भाऊसाहेब महाराज के शिष्यों में सर्वाधिक वरिष्ठ माने जाते थे। अंबुराव महाराज, यद्यपि औपचारिक शिक्षा में अधिक आगे नहीं बढ़े थे, फिर भी अपने शिष्यों द्वारा पूछे गए गहन तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्नों का समाधान करने में समर्थ थे। इसी कारण उनके सह-शिष्य गुरुदेव रानाडे उन्हें अत्यंत सम्मान देते थे और उनके

साथ वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा वे अपने गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज के साथ करते थे।

श्री भाऊसाहेब महाराज ने प्रोफेसर रानडे को इस परंपरा में गाए जाने वाले उपयुक्त भजनों के संकलन का कार्य सौंपा। यदि कोई यह कार्य कर सकता था, तो वे ही थे। एक रोचक प्रसंग यह है कि एक बार गुरुदेव रानाडे एक पंक्ति लिख रहे थे- *"पहिले पाहता श्रीमुख"* – जिसका अर्थ है, "जब गुरु का मुखदर्शन होता है, तब सभी इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं।" उसी समय श्री भाऊसाहेब महाराज वहाँ पहुँचे और उन्होंने उन्हें वही वाक्यांश जोड़ने के लिए कहा जो वे उस समय लिख रहे थे।

श्री भाऊसाहेब महाराज के कम-से-कम दस प्रमुख शिष्य थे- अंबुराव, वेंकटराव, राजिद अंजन्द्र, गिरिमल्लेश्वर, सिदालिंग, शिवलिंगव्वा, दत्तोपंत, रामराव, गुरुदेव रानडे तथा सिद्धरामेश्वर महाराज। इसके अतिरिक्त पांडुरंग महाराज का नाम भी जोड़ा जाना चाहिए, जिनके विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। ये सभी प्रतिवर्ष जुलाई और अगस्त के बीच एक माह के लिए उसी सभागार में एकत्र होते थे। वहाँ वे ध्यान करते, दासबोध का अध्ययन करते और शिक्षाएँ ग्रहण करते थे। वे प्रातःकाल से रात्रि तक स्वयं को इसी साधना में समर्पित रखते थे। दिन भर में केवल एक गिलास दूध, एक खजूर और इच्छानुसार जल ग्रहण करने की अनुमति थी। जितना अधिक और जितना गहरा ध्यान होता है, आहार उतना ही कम होता जाता है।

दोपहर तीन से चार बजे तक वे एक विशाल पत्थर की गोलाकार शिला पर खड़े होकर ध्यान करते थे, ताकि संतुलन बनाए रखते हुए एकाग्रता पर अधिक नियंत्रण प्राप्त कर सकें। सायं छह बजे से प्रातः तीन बजे तक लगातार नौ घंटे ध्यान किया जाता था। इस दौरान न तो दीवार का सहारा लिया जाता था और न ही किसी से बातचीत की जाती थी।

जब कोई स्वयं को इस प्रकार की कठोर ध्यान-साधना में समर्पित करता है, तब यद्यपि संवाद बहुत कम होता है, फिर भी साधकों के बीच एक गहरा संबंध स्थापित हो जाता है। जब उनके शिष्य विदा होते थे, तब श्री भाऊसाहेब महाराज की आँखों से आँसू बहते थे- एक ओर उनके प्रति प्रेम के कारण और दूसरी ओर इसलिए कि वे जानते थे कि घर लौटने पर शिष्य उस स्तर की साधना को बनाए नहीं रख पाएँगे।

गुरुदेव रानडे एक असाधारण और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, जिन्होंने महाराष्ट्र में अनेक छात्रवृत्तियाँ और पुरस्कार प्राप्त किए थे। उन्होंने पुणे के फर्ग्यूसन कॉलेज में अंग्रेज़ प्राध्यापकों के मार्गदर्शन में अध्ययन किया। वे गणित और यूनानी दर्शन

में विशेष रूप से निपुण थे। वे यूरोपीय और भारतीय भाषाओं सहित दस से अधिक भाषाओं के ज्ञाता थे। उनकी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ तुलनात्मक दर्शन और धर्म के प्रति उनकी गहरी रुचि को दर्शाती हैं।

1919 में, जब वे तैंतीस वर्ष के थे, उन्होंने अपनी माता, पत्नी और पुत्र- तीनों को खो दिया। बाद में उन्होंने सीताबाई नामक महिला से पुनर्विवाह किया, जिन्होंने आगे चलकर अपने पति की स्मृति और विरासत को संरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गुरु के रूप में कार्य

1921 में उन्होंने निंबाल में चालीस हेक्टेयर भूमि खरीदी और प्रथम निंबाल आश्रम का निर्माण कराया। आश्रम में स्थित उनका निवास बाद में उनकी समाधि में परिवर्तित कर दिया गया।

श्री अंबुराव महाराज के देहावसान के पश्चात, 1936 में गुरुदेव रानडे ने मंत्र-दीक्षा देना प्रारंभ किया। वे अंबुराव महाराज को अपने गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज के पश्चात परंपरा का अगला प्रतिनिधि मानते थे। उन्होंने चार हजार से अधिक लोगों को मंत्र प्रदान किया, जिनमें महाराष्ट्र और कर्नाटक के अनेक शिक्षित नगरवासी भी सम्मिलित थे।

वर्तमान में निंबाल आश्रम में कोई गुरु नहीं है। वरिष्ठ साधक शिक्षाएँ देते हैं और मंत्र प्रदान करते हैं, किंतु यह गुरु-शिष्य परंपरा के रूप में नहीं होता। दीक्षित होने वाला व्यक्ति मंत्र लिखी हुई पर्चियों में से एक का चयन करता है। लोग आज भी केवल आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए ही नहीं, बल्कि जीवन-परिवर्तनकारी अनुभवों के कारण भी आश्रम में आते हैं।

तुलनात्मक दर्शन और धर्म अकादमी

गुरुदेव रानडे को अनेक राजनीतिक दलों और संस्थाओं ने अपने साथ जुड़ने का निमंत्रण दिया, किंतु उन्होंने सदैव इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इससे उनका बहुत समय व्यतीत होता। 1948 से 1953 के बीच उन्होंने विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। इसके साथ-साथ उन्होंने अत्यंत सक्रिय शैक्षणिक जीवन भी बनाए रखा, जिसके कारण उन्हें निरंतर यात्राएँ करनी पड़ती थीं और विभिन्न संस्थानों में प्रतिनिधिक पद संभालने पड़ते थे।

1924 में दिए गए एक व्याख्यान में गुरुदेव रानडे ने कहा कि उनके लिए आध्यात्मिक जीवन सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। लोगों की यह धारणा गलत है कि उनकी रुचि केवल बौद्धिक और दार्शनिक अनुसंधान तक सीमित थी। उनका मत था कि दर्शन और धर्म को साथ-साथ चलना चाहिए।

इसी उद्देश्य से उन्होंने 1924 में "तुलनात्मक दर्शन और धर्म अकादमी" की स्थापना की। इसका प्रारंभिक केंद्र निंबाल में था, जिसे बाद में बेलगाम स्थानांतरित कर दिया गया। अकादमी की गतिविधियों में गुरुदेव रानाडे और अन्य विद्वानों की पुस्तकों तथा ग्रंथों का प्रकाशन सम्मिलित है।

एक छोटे ध्यान-कक्ष में श्री निंबरगी महाराज, श्री अंबुराव महाराज, श्री भाऊसाहेब महाराज, श्री शिवलिंगव्वा तथा स्वयं प्रोफेसर गुरुदेव रानडे की समाधियों के चित्र स्थापित हैं।

शिक्षाएँ:

सद्गुरु अथवा उच्च कोटि के गुरु द्वारा दीक्षा के विषय में गुरुदेव रानाडे की शिक्षाओं का एक दाहरणा प्रस्तुत है-

"दीक्षा की आवश्यकता" – उपनिषद बार-बार गुरु द्वारा दीक्षा की आवश्यकता पर बल देते हैं। जब तक किसी साधक को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में गुरु द्वारा दीक्षित नहीं किया जाता, तब तक वह आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता।

यदि आध्यात्मिक शिक्षक उच्च कोटि का न हो, तो ज्ञान की प्राप्ति कठिन हो जाती है। और यदि दीक्षा ऐसे सद्गुरु से न मिले जिसने आत्मा के साथ अपनी एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया हो, तो उस सूक्ष्म मार्ग का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता जो तर्क और वाद-विवाद की सीमाओं से परे है।[1]

– एंटोनियो प्लाना

---

1 देशपांडे, एम. ए., *Thus Spake Dr. Gurudeo Ranade (Selections from His Writings)*, एकेडमी ऑफ कम्पेरेटिव फिलॉसफी एंड रिलिजन, बेलगाम, 1995, पृष्ठ 44।

स्रोत: एंटोनियो प्लाना द्वारा क्षेत्रीय अनुसंधान पर आधारित सामग्री, जो उनकी पुस्तक *"Sadguru"* में प्रकाशित हुई है

जीन डन और निसर्गदत्त महाराज की खोज

1960 के दशक और 1970 के प्रारंभिक वर्षों में अनेक विदेशी भारत की यात्रा कर रहे थे। यह हिप्पी पीढ़ी का स्वर्णकाल था- लंदन और दिल्ली के बीच चलने वाली प्रसिद्ध *मैजिक बस* यात्राओं का समय, तथा *हिप्पी ट्रेल* का युग, जिसके मार्ग से युवा यूरोपीय कारों और वैनों द्वारा नेपाल, थाईलैंड, अफ़ग़ानिस्तान और भारत की यात्राएँ करते थे। पॉल ब्रंटन और आर्थर ऑसबोर्न की पुस्तकों के कारण रमणाश्रम आध्यात्मिक साधकों के लिए सबसे आकर्षक स्थलों में से एक बन चुका था। ऐसे जीवित गुरु की खोज, जिनसे व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर सके, जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि मानी जाती थी। रमण महर्षि और अन्य महान संतों का देहावसान हो चुका था। परिस्थितियाँ अनुकूल थीं।

इस कथा का अगला महत्वपूर्ण सूत्र था *Mountain Path* पत्रिका, जो तब भी और आज भी भगवन् रमण महर्षि की शिक्षाओं, अन्य महान संतों के ज्ञान, भारतीय आध्यात्मिकता तथा उसकी परंपरा के इतिहास के प्रसार के लिए समर्पित है। 1978 में इसकी वार्षिक सदस्यता भारत में दस रुपये, विदेशों में चार डॉलर तथा आजीवन सदस्यता पच्चीस डॉलर की थी। भारत में संपादित, मुद्रित और अंग्रेज़ी में प्रकाशित यह पत्रिका विश्वभर में, विशेषकर अंग्रेज़ी भाषी देशों और यूरोप में भेजी जाती थी।

1973 तक *I Am That* अनेक साधकों के हाथों में पहुँच चुकी थी और निसर्गदत्त महाराज के छोटे से मचाननुमा कक्ष में विदेशियों का आना-जाना बढ़ने लगा था। 1978 के अंत में जीन डन ने *Sri Nisargadatta Maharaj* शीर्षक से

एक लेख लिखा, जिसने उन लोगों का ध्यान आकर्षित किया जो किसी जीवित गुरु से सर्वोच्च आध्यात्मिक शिक्षाएँ प्राप्त करना चाहते थे।

जीन डन जानती थीं कि यह कार्य कैसे करना है। वे लेखन-कला में निपुण थीं और यह भी जानती थीं कि क्या कहा जाना चाहिए, क्योंकि वे पहले पत्रकार रह चुकी थीं। उनके योगदान ने *I Am That* तथा निसर्गदत्त महाराज की ख्याति को भारत की सीमाओं से बहुत दूर तक पहुँचा दिया।

जीन डन (1921–1996) केवल ऐसी व्यक्ति नहीं थीं जिन्होंने फ्राइडमैन और निसर्गदत्त की पुस्तक पढ़ी थी। वे कम-से-कम तीन वर्षों से तिरुवन्नामलै में रह रही थीं और भगवन् रमण महर्षि की भक्त थीं। वे जानती थीं कि रमणाश्रम के अनेक साधक पहले ही निसर्गदत्त महाराज से मिलने जा चुके थे। उनके मामले में किसी ने उन्हें बंबई जाकर निसर्गदत्त महाराज से मिलने का सुझाव दिया। कहा गया कि वे एक छिपे हुए संत हैं, जो स्वयं को प्रचार से दूर रखते हैं और एक समय में केवल कुछ ही लोगों को आकर्षित करते हैं, क्योंकि उनकी शिक्षाएँ सामान्य जनसमुदाय के लिए नहीं थीं।

उन्हें यह सलाह किसने दी?.. वह थे पूज्य श्री गणेशन, जो रमण महर्षि के प्रपौत्र-भतीजे थे। उन्होंने जीन को I Am That की एक प्रति दी और बार-बार उसे पढ़ने के लिए प्रेरित किया। अंततः जीन ने उनकी बात मानी और पुस्तक पढ़ी।

वे बंबई पहुँचीं और उनके अपने शब्दों में, "मैं महाराज की कृपा-जाल में फँस गई।" उस समय उनकी आयु सत्तावन वर्ष थी। उस प्रथम भेंट का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा, "मैंने उन्हें पहली ही दृष्टि में प्रेम कर लिया।" उनकी प्रिय धारणाएँ और मानसिक अवधारणाएँ टूट गईं और किसी प्रकार उन्हें अनुभव हुआ कि सत्य यहीं है। उन्होंने मंत्र-दीक्षा ग्रहण की और उनका जीवन महाराज की भक्ति के इर्द-गिर्द घूमने लगा।

उनके गुरु शिष्यों की भीड़ नहीं चाहते थे। वे कहा करते थे: "यदि लोग आते हैं तो अच्छा है, और यदि नहीं आते तो भी अच्छा है।"

जब जीन से पूछा गया कि क्या किसी आत्मज्ञानी पुरुष के इतने निकट रहना कठिन है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि किसी को अपना अहंकार छोड़ना हो तो यह सरल नहीं होता।

उनका और महाराज का संबंध अत्यंत निकट था। कुछ समय बाद निसर्गदत्त महाराज उन्हें एक आत्मसाक्षात्कारी साधिका के रूप में देखने लगे। अक्टूबर 1978 में जीन दाहर लेख *Mountain Path* पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जो विश्वभर में

वितरित की गई। इस लेख के दो भाग थे। पहला भाग निसर्गदत्त महाराज और *I Am That* पुस्तक की पृष्ठभूमि से संबंधित था, जबकि दूसरा भाग उनकी शिक्षाओं के सार को प्रस्तुत करता था। पहले भाग में श्रीकांत गोगटे और पी. टी. फडोल द्वारा लिखित उस समय की एकमात्र जीवनी से कुछ विवरण लिए गए थे।

उसमें से एक अंश इस प्रकार है:

"उनके अपने शब्दों में: 'जब मुझे मेरे गुरु मिले, उन्होंने मुझसे कहा—तुम वह नहीं हो जो स्वयं को समझते हो। पता लगाओ कि तुम वास्तव में क्या हो। "मैं हूँ" की अनुभूति को देखो। अपने वास्तविक स्वरूप को खोजो। ... मैंने वैसा ही किया जैसा उन्होंने कहा। अपना सारा खाली समय मैं मौन में स्वयं को देखने में बिताता था। इससे कितना बड़ा परिवर्तन आया और कितनी शीघ्रता से! मुझे अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में केवल तीन वर्ष लगे।'"

खेतवाड़ी की दसवीं गली में स्थित वह छोटा-सा मकान, जो वर्षों पहले ध्यान के लिए बनाया गया था, प्रतिदिन प्रश्नोत्तर सत्रों के दौरान लोगों से भर जाता था। कक्ष की दीवारें विभिन्न धर्मों के महान संतों के चित्रों से सुसज्जित थीं।

वातावरण सहज और मैत्रीपूर्ण था। बाहर की सड़क का शोर मानो भुला दिया जाता था।

सभी का ध्यान महाराज की छोटी-सी देहाकृति पर केंद्रित रहता था। उनका कद लगभग पाँच फुट था। सिर के बाल कम थे, चेहरे पर झुर्रियाँ थीं, आँखें अत्यंत पैनी थीं और मुस्कान संक्रामक थी। एक बार किसी ने उनकी बड़ी नाक और कानों का उल्लेख किया, तो उन्होंने मुस्कुराकर उत्तर दिया: "शायद मैं गणेशजी का वंशज हूँ।" यह उनके तीव्र विनोदबोध और बाहरी रूप-रंग के प्रति उदासीनता का परिचायक था। कुछ क्षणों के लिए वे बिल्कुल साधारण व्यक्ति जैसे प्रतीत होते थे। फिर अचानक यह अनुभूति होती थी कि वे इस सत्य के जीवंत दाहरणा हैं कि **यह संभव है, यह अवश्य होना चाहिए!**

उनके दर्शन से साहस जागृत होता था, मन शांत हो जाता था और एक गहरी प्रसन्नता एवं कल्याण की अनुभूति होती थी।

वे मज़ाक करते, हँसते, कभी भौंहें चढ़ाते, कभी उँगलियाँ चटकाते, तो कभी किसी बात पर बल देने के लिए मुट्ठी उठा लेते। उनके चेहरे पर भाव ऐसे बदलते थे जैसे सूर्य की किरणें जल पर खेल रही हों। वे सुंदर थे। उनकी जीवंत ऊर्जा और शुद्ध

अस्तित्वानंद की धारा का अनुभव सहज रूप से होता था।

वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सरलता, स्पष्टता और संक्षिप्तता से देते थे, बिना शास्त्रों के उद्धरणों या किसी मतवाद का सहारा लिए। अत्यंत विनम्र और करुणामय होते हुए भी वे व्यक्ति की सभी मानसिक आधारशिलाओं को अचानक खींच लेते थे। प्रिय अवधारणाएँ केवल शब्द मात्र सिद्ध होती थीं। तब व्यक्ति समझ पाता था कि सत्संग का वास्तविक मूल्य क्या है।

उनका संदेश अत्यंत सरल और प्रत्यक्ष था:

"तुम अभी और यहीं आत्मा हो। यह कल्पना करना बंद करो कि तुम यह दाहर वह हो। असत्य के प्रति अपनी आसक्ति छोड़ दो।"

इन शिक्षाओं का सर्वोत्तम दाहरणा *I Am That* में मिलता है।

बाद में जीन डन निसर्गदत्त महाराज की पुस्तकों की संपादक बनीं। वे सुनिश्चित करती थीं कि पुस्तकें सही ढंग से लिखी और अनूदित हों। महाराज कहा करते थे कि इन पुस्तकों में संकलित वार्ताएँ सर्वोत्तम हैं। मॉरिस फ्राइडमैन की तरह जीन भी दिनभर की वार्ताओं के नोट्स और रिकॉर्डिंग लेकर रात में उन्हें टाइप करती थीं। महाराज इससे पूर्णतः संतुष्ट थे।

जीन ने *Self-Knowledge and Self-Realizatio*n पुस्तक की सौ प्रतियाँ प्रकाशित कीं और निसर्गदत्त महाराज की तीन अत्यंत प्रसिद्ध पुस्तकों— *Consciousness and the Absolute, Seeds of Consciousness* तथा *Prior to Consciousness* — की संपादक रहीं। वे पूर्णतः अपने गुरु को समर्पित थीं। उनकी उपस्थिति में आनंदित रहती थीं, उन्हें फूलों की मालाएँ अर्पित करती थीं, उनका कक्ष व्यवस्थित रखती थीं और उनकी सेवा में निरंतर लगी रहती थीं।

उनकी डायरी के अनुसार, 31 मार्च 1980 को गुरु पूर्णिमा के अवसर पर वे आश्रम पहुँचीं। महाराज की पुत्रवधू माया उन्हें वहाँ ले गईं जहाँ महाराज थे ताकि वे उनका स्नान करा सकें। जीन ने उन्हें साबुन लगाकर स्नान कराया और उन्हें आलिंगन भी किया। 1980 में निसर्गदत्त महाराज ने स्वीकार किया कि जीन डन ने अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है और उनसे कहा कि अब उन्हें इन शिक्षाओं को आगे बढ़ाना चाहिए।

जैसे-जैसे महाराज की बीमारी बढ़ती गई, जीन ने यथासंभव उनकी सेवा की, यद्यपि अंतिम महीनों में वे उनके साथ नहीं रह सकीं। बाद में वे अमेरिका लौट गईं, किंतु उन्होंने कभी पश्चिमी जीवनशैली की कमी अनुभव नहीं की। उन्होंने कैलिफ़ोर्निया

के वैकाविल में शांत जीवन व्यतीत किया और लोगों को शिक्षा देती रहीं। वे एक ट्रेलर में रहती थीं, टेलीविजन पर धारावाहिक देखती थीं और जब धन की आवश्यकता होती तो लास वेगास जाकर स्लॉट मशीनें खेलती थीं। वे लगातार धूम्रपान करती थीं और 1996 में फुफ्फुसीय वातस्फीति (Pulmonary Emphysema) के कारण उनका निधन हो गया।

अपने निधन से पहले उन्होंने अपनी एक शिष्या को उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उनका नाम न्गेटोन (जन्म 1939) था, जिसका तिब्बती भाषा में अर्थ है— "मूल मन" (Original Mind)। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन तिब्बती बौद्ध धर्म को समर्पित किया था, किंतु 1991 में जीन डन से भेंट के बाद उन्हें अपना अंतिम गुरु प्राप्त हुआ।

जीन डन के एक अन्य उत्तराधिकारी, यदि इस शब्द का प्रयोग यहाँ उचित हो, एड मुज़िका (जन्म 1942) थे। वे क्लिनिकल मनोविज्ञान में डॉक्टरेट धारक थे और ज़ेन परंपरा से जुड़े हुए थे। वे अमेरिका में स्थापित अनेक प्रमुख ज़ेन गुरुओं से मिल चुके थे।

अपने निधन से पूर्व जीन डन ने उन्हें निसर्गदत्त महाराज का वह चित्र दिया जो उनके ट्रेलर में लगा था, साथ ही *Self-Knowledge and Self-Realization* की एक प्रति भी। फिर भी एड की खोज समाप्त नहीं हुई। उनके अपने शब्दों में:

"मेरा अंतिम गुरु रॉबर्ट एडम्स थे।" हालाँकि खोज की प्रक्रिया उनके जीवन में चलती रही। एड मुज़िका के अनुसार:

"जीन डन एक साधारण महिला जैसी दिखाई देती थीं। वे महाराज की शिक्षाओं की गहराई पर विशेष बल नहीं देती थीं, क्योंकि वे स्वयं उनमें पूर्णतः रची-बसी थीं। न तो उनमें और न ही रॉबर्ट में कोई विशेष करिश्मा था। यदि उनमें कुछ था, तो वह केवल शून्यता थी।"

स्रोत: मेरी पुस्तक *"Biografía alrededor de Nisargadatta Maharaj"*, प्रकाशक: *La Liebre de Marzo*, बार्सिलोना, 2017।

– एंटोनियो प्लाना

गुरुदेव डॉ. आर. डी. रानडे : ईश्वर-साक्षात्कार के एक महान प्रचारक

गुरुदेव रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे (1886–1957) एक विख्यात दार्शनिक, विद्वान, रहस्यद्रष्टा (मिस्टिक) और सबसे बढ़कर एक सद्गुरु थे। आध्यात्मिक एवं दार्शनिक महानता की दृष्टि से वे प्राचीन ऋषियों *याज्ञवल्क्य* और *वसिष्ठ* तथा संत *ज्ञानेश्वर* और स्वामी *रामदास* से किसी भी प्रकार कम नहीं थे। इसके अतिरिक्त, ईश्वर के अस्तित्व, दिव्य अनुभूति की अतीन्द्रिय प्रकृति तथा ध्यान की विभिन्न पद्धतियों के संबंध में प्रचलित विविध मतों का समन्वय करने का महान कार्य भी उन्होंने किया।

गुरुदेव ने उस 'दिव्य नाम' के ध्यान को अत्यंत महत्त्व दिया, जिसकी दीक्षा ऐसे आध्यात्मिक गुरु द्वारा दी गई हो, जिसने आत्म-साक्षात्कार की परम अवस्था प्राप्त कर ली हो। उन्होंने संसार के समक्ष **'थियोसेंट्रिक थ्योरी' (ईश्वर-केंद्रित सिद्धांत)** प्रस्तुत करते हुए यह संदेश दिया— **"एक ईश्वर, एक धर्म और एक विश्व।"** अपनी गहन साहित्य-संपदा के माध्यम से उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए ईश्वर और ईश्वर-साक्षात्कार को जीवन का केंद्रीय उद्देश्य बनाया।

ईश्वरीय कृपा से आत्म-साक्षात्कार के सत्य मार्ग के प्रसार हेतु ऐसे विलक्षण ग्रंथों की रचना गुरुदेव के माध्यम से सहज एवं स्वाभाविक रूप से संपन्न हुई। वस्तुतः, प्रामाणिक आत्मज्ञान का प्रचार-प्रसार स्वयं परमात्मा की ही इच्छा और प्रेरणा होती है। *भगवान ऋषभदेव*—जो *नारायण* के अवतार थे—के सौ पुत्रों में से नौ पुत्र नारायण के दिव्य स्वरूप के अवतार माने गए। वेदों और शास्त्रों में पारंगत होने के साथ-साथ प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव द्वारा परिपक्व होकर उन्होंने सत्-चित्-आनंद की अवस्था प्राप्त की थी।

इन्हीं महान संतों ने *राजा जनक* को ***भागवत धर्म*** का उपदेश दिया। बाद में भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें आत्मविद्या के इस पवित्र ज्ञान का व्यापक प्रसार करने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा का पालन करते हुए ये *नवनारायण* कलियुग में *नवनाथों* के रूप में अवतरित हुए। उनमें से *चामस नारायण* ने *रेवणनाथ* के रूप में अवतार ग्रहण कर भागवत धर्म तथा ईश्वर-साक्षात्कार की सनातन परंपरा को आगे बढ़ाया।

यह पवित्र गुरु-परंपरा भगवान रेवणनाथ से लेकर 22वें *कडसिद्ध* श्री मुप्पिनमुनी तक अखंड रूप से प्रवाहित होती रही और आगे चलकर श्री निंबरगी महाराज, श्री भाऊसाहेब महाराज तथा श्री अंबुराव महाराज के माध्यम से अंततः गुरुदेव तक पहुँची। गुरुदेव के द्वारा भारतीय आत्म-साक्षात्कार का यह प्राचीन मार्ग सम्पूर्ण विश्व के समक्ष प्रकट हुआ।

एक दृष्टि से देखा जाए तो इस गुरु-परंपरा के आत्मज्ञान-वृक्ष का पूर्णतः विकसित और परिपक्व फल स्वयं श्री गुरुदेव ही थे। सद्गुरु-पद की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने तथा अपनी गुरु-परंपरा, भारतीय अध्यात्म और भक्ति की पताका को भारत और विश्वभर में फहराने के लिए ही उनका अवतरण हुआ था। गुरुदेव के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार का दिव्य संदेश विश्व के कोने-कोने तक पहुँचा।

वास्तव में, यह पवित्र कार्य उन्हें सद्गुरु-परंपरा द्वारा बहुत पहले ही सौंप दिया गया था। उनका जन्म स्वयं परमात्मा तथा इस परंपरा के आद्य ऋषियों की दिव्य योजना के अंतर्गत हुआ था। सद्गुरु की परम कृपा से गुरुदेव के माध्यम से असाधारण साहित्यिक कृतियाँ सहज एवं स्वाभाविक रूप से प्रकट हुईं, जिनका उद्देश्य ईश्वर-साक्षात्कार के प्रामाणिक मार्ग को प्रकाशित करना और उसका प्रसार करना था। जैसा कि श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

म्हणोनि माझें नीच नवे । श्वासोश्वासही प्रबंध होआवे ।
श्रीगुरुकृपा काय नोहे । ज्ञानदेवो म्हणे ॥(१८.१७३५)

(भावार्थ : इसलिए मेरे लिए कुछ भी असंभव या तुच्छ नहीं है। यदि सद्गुरु की कृपा हो जाए तो मेरे प्रत्येक श्वास और निश्वास से भी ग्रंथों की रचना होने लगे। श्रीगुरु की कृपा से क्या नहीं हो सकता? ऐसा श्री ज्ञानदेव कहते हैं।)

इस संबंध में श्री भाऊसाहेब महाराज के भविष्यवचन की कथा अत्यंत उल्लेखनीय है। सन 1907 में कार्तिक मास के दौरान जामखंडी में एक ग्रंथ-पारायण

चल रहा था। उस समय श्री भाऊसाहेब महाराज ने गुरुदेव को ग्रंथ का वाचन करने के लिए कहा। पास ही बैठे निम्बर्गी महाराज के पौत्र श्री नागप्पा की ओर देखते हुए महाराज ने कहा—

"देखो, रामराया को कोई साधारण साधक मत समझना। उनका महत्त्व अत्यन्त महान है। यही रामराया सात समुद्र पार के विदेशियों को तुम्हारे आजोबा (दादाजी) की समाधि के समक्ष नतमस्तक करेगा। तुम्हारे आजोबा की कीर्ति को समुद्र पार पहुँचाने का कार्य इसी के हाथों होना है।"

सद्गुरु के ये वचन भविष्यवाणी के रूप में सत्य सिद्ध हुए। गुरुदेव ने अपनी परम्परा की कीर्ति को ऐसी ऊँचाइयों तक पहुँचाया कि उसकी महिमा की कोई सीमा न रही।

दशकों बाद फ्रांस के डॉ. डी. मार्केज अपनी पत्नी सहित निम्बाल आए। 22 दिसम्बर 1954, दत्त जयंती के पावन दिन, डॉ. मार्केज को नामदीक्षा प्राप्त हुई। गुरुदेव के निर्देशानुसार वे निम्बार्ग गए और वहाँ निम्बर्गी महाराज की समाधि पर श्रद्धांजलि अर्पित की। इस प्रकार श्री भाऊसाहेब महाराज की दूरदृष्टि साकार हुई तथा श्री मुप्पिनमुनी कडसिद्धस्वामी द्वारा श्री निम्बार्गी महाराज को दिया गया यह कृपामय आशीर्वाद पूर्ण हुआ— *"यदि तुम बताए गए मार्ग के अनुसार साधना करोगे, तो तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगंत तक फैल जाएगी।"*

किन्तु यह घटना केवल एक प्रतीकात्मक उदाहरण है। श्री निम्बर्गी महाराज द्वारा प्रतिपादित **नामस्मरण** और **आचरणयोग** का मार्ग गुरुदेव के दार्शनिक ग्रंथों के माध्यम से विश्वभर में पहुँचा। इस प्रकार निम्बर्गी महाराज की कीर्ति के सात समुद्र पार पहुँचने का दिव्य संकल्प पूर्ण हुआ।

श्री गुरुदेव के अनुपम साहित्य में निहित गहन तत्त्वज्ञान वस्तुतः श्री निम्बर्गी महाराज के *बोधसुधा* में निहित शिक्षाओं का ही विस्तृत विकास है। इन आध्यात्मिक बीजों से गुरुदेव ने उत्कृष्ट साहित्य के विशाल वटवृक्ष विकसित किए। उन्होंने श्री निम्बार्गी महाराज के परमार्थ-ज्ञान को सात समुद्र पार पहुँचाकर अपने सद्गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज की भविष्यवाणी को पूर्णतः चरितार्थ किया।

गुरुदेव के दर्शन का सार

गुरुदेव ने भारत की पारम्परिक आध्यात्मिक दर्शन-परम्परा के आधुनिकीकरण और पुनर्जागरण में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उस समय आधुनिक भारतीय

चिंतन पाश्चात्य बौद्धिकता और शुष्क शैक्षणिक आदर्शवाद से अत्यधिक प्रभावित था। ऐसे समय में गुरुदेव रानडे ने प्राचीन भारतीय ज्ञानपरम्परा के **ईश्वर-केंद्रित (Theocentric)** दृष्टिकोण को कठोर तर्कशास्त्र और आधुनिक विज्ञान के साथ समन्वित कर पुनः प्रतिष्ठित किया।

ईश्वर-केंद्रित सिद्धान्त, विश्व-केंद्रित (Cosmocentric) और मानव-केंद्रित (Homocentric) सिद्धान्तों से पूर्णतः भिन्न है। यही गुरुदेव के दर्शन का मूलाधार है। इसके अनुसार समस्त जगत ईश्वर में स्थित है, उसी में गति करता है और उसी में अपना अस्तित्व पाता है। इस दिव्यता की अनुभूति ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। दिव्य सत्ता की यह अनुभूति और आत्म-साक्षात्कार का यह आदर्श गुरुदेव के जीवन के आरम्भिक काल से ही उनकी गहन श्रद्धा और साधना का विषय था।

गुरुदेव का आध्यात्मिक जीवन मात्र पंद्रह वर्ष की आयु में आरम्भ हुआ। 1915 में, जब वे अभी युवा ही थे, बैंगलोर की संस्कृत अकादमी ने उन्हें उपनिषदों पर व्याख्यानमाला देने के लिए आमंत्रित किया। यह उनके लिए ईश्वर-प्रदत्त अवसर था, जिसके माध्यम से उन्होंने उपनिषदों का अत्यन्त गहन और समालोचनात्मक अध्ययन किया। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन के व्यापक अध्ययन की पृष्ठभूमि में किए गए इस विश्लेषण ने उन्हें आत्म-साक्षात्कार के मूल सिद्धान्तों, उसके दार्शनिक औचित्य, साधना-पद्धतियों तथा उसके परिणामों को समझने में अत्यन्त सहायता प्रदान की। बाद में यही व्याख्यान उनके महान ग्रंथ **'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy'** के रूप में विकसित हुए। यह उनकी प्रथम प्रकाशित कृति थी, जिसने उन्हें भारत और विदेशों में एक अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दार्शनिक और विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित किया।

दर्शनशास्त्र के अध्ययन ने गुरुदेव की धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। रहस्यवाद (Mysticism) की तर्कसंगत व्याख्या के लिए किया गया उनका विद्वत्तापूर्ण शोध अद्वितीय सफलता से सम्पन्न हुआ। मराठी, हिन्दी और कन्नड़ साहित्य में उपलब्ध उनका **'पाथ वे टू गॉड'** (ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग) इस तथ्य का सशक्त प्रमाण है। गुरुदेव के लिए दर्शन केवल चिंतन की प्रक्रिया नहीं था, बल्कि जीवन जीने का एक वास्तविक मार्ग था। उनका दर्शन मूलतः आत्मा का दर्शन है- एक ऐसा दर्शन जिसका केन्द्र ईश्वर है।

("शांतपणे, समाधानाने, ईश्वरचिंतनाचा आनंद भोगणे, ही कल्पना साक्षात्कारवादात अंतर्भूत आहे. मनुष्याला धारण करता येण्यासारखी हीच उच्चतम

वृत्ती, हेच उच्चतम ध्येय होय.")

- "शांत भाव से, संतोषपूर्वक, ईश्वर-चिंतन के आनन्द का अनुभव करना—यह भावना साक्षात्कारवाद में अंतर्निहित है। मनुष्य के लिए धारण करने योग्य यही सर्वोच्च वृत्ति है और यही उसका परम लक्ष्य है।"

२. "थिओनॉमी" (Theonomy) पर आधारित नैतिक व्यवस्था

स्वायत्तता (Autonomy) से थिओनॉमी (Theonomy) की ओर: गुरुदेव ने नैतिक चिंतन का पुनर्गठन उस सिद्धान्त के आधार पर किया जिसे उन्होंने **थिओनॉमी** कहा—अर्थात् नैतिक मूल्यों का आधार ईश्वरीय नियम है और उनकी सिद्धि ईश्वरीय इच्छा के अनुरूप जीवन जीने में निहित है। उन्होंने मुक्त तथा ईश्वर-मदिरा में निमग्न संत की आनन्दमयी अवस्था के लिए **"बीटिफिकेशन" (Beatification)** शब्द का प्रयोग किया।

बीटिफिसिज़्म (Beatificism): उन्होंने प्रतिपादित किया कि सर्वोच्च सद्गुण और नैतिक पूर्णता प्रत्यक्ष रूप से दिव्य आनन्द **(Beatitude)** की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने दिखाया कि नैतिक जीवन और आध्यात्मिक साक्षात्कार एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं, बल्कि अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

३. भक्ति आन्दोलन का दार्शनिक पुनर्मूल्यांकन

गुरुदेव रानडे ने संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, बसवेश्वर और कबीर जैसे मध्यकालीन भक्ति-संतों को व्यवस्थित रूप से गंभीर दार्शनिक चिन्तकों के रूप में प्रतिष्ठित किया। **'Mysticism in Maharashtra'** तथा **'Pathway to God in Kannada Literature'** जैसे ग्रंथों में उन्होंने सिद्ध किया कि लोकभाषाओं के संतों ने प्राचीन वेदों और उपनिषदों के गूढ़ ईश्वर-केंद्रित तत्त्वज्ञान को व्यवहारिक रूप देकर सामान्य जन के लिए सुलभ बना दिया। उन्होंने कहा—

> "रहस्यवाद (Mysticism) आध्यात्मिक जीवन का ऐसा मार्ग है जो सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में बाँधता है। केवल यह जान लेना पर्याप्त नहीं है कि विभिन्न दार्शनिक, ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, वैष्णव या लिंगायत

ईश्वर-प्राप्ति के लिए क्या प्रतिपादित करते हैं; आवश्यक यह है कि हम इन दर्शनों और धर्मों के पीछे निहित तत्त्व का विश्लेषण करें। तब हम देख सकते हैं कि मूलतः एक ही प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा इन सभी में व्याप्त है। मैंने अपने ग्रंथों *'Mysticism in Maharashtra'* (1933) तथा *'Pathway to God in Hindi Literature'* (1954) में इसे स्पष्ट किया है। कर्नाटक के रहस्यवाद के अध्ययन द्वारा भी मैं इसी तथ्य की पुष्टि करने जा रहा हूँ।"

४. पूर्वी और पाश्चात्य चिंतन का समन्वय

गुरुदेव रानडे ने कांट, हेगेल, प्लॉटिनस तथा स्पिनोज़ा जैसे पाश्चात्य विचारकों का गहन अध्ययन करके पश्चिमी दर्शन के साथ समान स्तर पर संवाद स्थापित किया। उन्होंने दिखाया कि पश्चिमी तत्त्वमीमांसा तथा भौतिकी और जीवविज्ञान में आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों की अंतिम परिणति उसी आध्यात्मिक सत्य में होती है, जिसकी अनुभूति प्राचीन भारतीय ऋषियों ने की थी।

५. शास्त्रीय ग्रंथों की ईश्वर-केंद्रित पुनर्व्याख्या

श्री गुरुदेव ने भारतीय परम्परा के मूलभूत ग्रंथों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि उनका अंतिम लक्ष्य ईश्वर-साक्षात्कार (आत्म-साक्षात्कार) है।

१. उपनिषद

अपने महान ग्रंथ 'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy' में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि उपनिषदों का दर्शन केवल किसी अमूर्त अद्वैतवाद (Monism) पर समाप्त नहीं होता, बल्कि दिव्य सत्ता के साथ जीवंत और प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्ण एकत्व में परिणत होता है।

इस विषय की उत्पत्ति स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

"यद्यपि मैंने 1915 से बहुत पहले उपनिषदों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु उसी वर्ष मेरे मन में पहली बार आधुनिक चिंतन की भाषा में

उपनिषद-दर्शन को प्रस्तुत करने का विचार उत्पन्न हुआ। शीघ्र ही मुझे ज्ञात हुआ कि उपनिषदों में दर्शन की केवल एक प्रणाली नहीं, बल्कि अनेक प्रणालियाँ हैं, जो एक के ऊपर एक ऐसे उठती जाती हैं जैसे आल्प्स पर्वतमाला की शृंखलाएँ, और अंततः परम सत्य की ऐसी अवधारणा तक पहुँचती हैं जो पश्चिम के समकालीन दार्शनिकों के गम्भीर विचार के योग्य है। इसी उद्देश्य से, और उपनिषद-दर्शन को पाश्चात्य मन के लिए बोधगम्य बनाने हेतु, मैंने साहसपूर्वक उसे पश्चिमी चिंतन-पद्धतियों के अनुसार प्रस्तुत करने की योजना बनाई, ताकि उन पद्धतियों में प्रशिक्षित व्यक्ति भी उसे समझ और उसका मूल्यांकन कर सकें।"

२. भगवद्गीता

अपने ग्रंथ **'The Bhagavad-Gita as a Philosophy of God-Realisation'** में उन्होंने गीता को केवल कर्मयोग अथवा नैतिक कर्तव्य के ग्रंथ के रूप में नहीं देखा, न ही उसे मात्र बौद्धिक वाद-विवाद का विषय माना। उन्होंने उसे ईश्वर-केंद्रित भक्ति तथा दिव्य आनन्दमय एकत्व की प्राप्ति का व्यावहारिक मार्गदर्शक ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया।

हम उनके समस्त विकसित होते हुए विचारों और उनके क्रमिक विस्तार को उनके साहित्य तथा उनके अपने शब्दों में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

अपने महान ग्रंथ '**A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy**' की भूमिका में गुरुदेव ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि उन्होंने भारतीय संतों की समस्त आध्यात्मिक विरासत को पाश्चात्य दर्शन की भाषा और दृष्टिकोण के माध्यम से प्रस्तुत करने का निर्णय क्यों लिया। इस विवेचन में उन्होंने उपनिषदों और भारतीय दर्शन के प्रति अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा रखे गए पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोणों का विस्तृत खण्डन किया है तथा भारतीय दर्शन में निहित दिव्य साक्षात्कार के परम आनन्द का अत्यन्त गहन और उदाहरणों सहित निरूपण किया है।

इसके अतिरिक्त, इस ज्ञान को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से उन्होंने **'Academy of Comparative Philosophy and Religion' (अध्यात्म विद्यापीठ)** की स्थापना की तथा उसके मूल उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया—

"यह अकादमी सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र या वंश के भेदों से परे समस्त दार्शनिक और धार्मिक ज्ञान को अपने कार्यक्षेत्र में सम्मिलित करेगी। इसकी प्रेरक

सार्वभौमिक दृष्टि इसके विवरण-पत्र (Prospectus) की निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट होती है-

'विशेषताओं के मध्य सार्वभौमिक तत्व को, परिवर्तन के मध्य अपरिवर्तनीय तत्व को खोजने की समस्या ने प्रत्येक दूरदर्शी व्यक्ति का ध्यान आकर्षित किया है, चाहे वह दार्शनिक हो या शासक। समय के साथ ज्ञान ने अद्भुत प्रगति की है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव की धरोहर को अत्यधिक समृद्ध किया है। पुरानी व्यवस्था बदल चुकी है और नई व्यवस्था ने उसका स्थान ले लिया है। तथापि मानव जीवन का लक्ष्य तथा उसे प्राप्त करने के साधन आज भी वही हैं। निस्संदेह, ईश्वर की खोज आज भी मानव के समक्ष सर्वोच्च समस्या बनी हुई है और आध्यात्मिक जीवन का दार्शनिक औचित्य आज भी उतना ही आवश्यक है जितना सैकड़ों वर्ष पूर्व था।'

'अध्ययन का मुख्य विषय दर्शन और धर्म होगा' अथवा 'मानव की परम सत्य की खोज को दार्शनिक आधार प्रदान करना' होगा। हमें यथार्थ के दार्शनिक दृष्टिकोण और विभिन्न आस्थाओं के अनुभवजन्य अध्ययन का समन्वय करना चाहिए, ताकि हम अपनी धार्मिक आकांक्षाओं और उपलब्धियों का तर्कसंगत औचित्य स्थापित कर सकें।"

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए **Academy of Philosophy and Religion** की स्थापना की गई। उन्होंने **'The Indian Philosophical Review'** नामक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रारम्भ की। अकादमी का एक अन्य उद्देश्य भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के दर्शन पर पुस्तकों का प्रकाशन था। प्रो. रानडे प्रकाशन पर विशेष बल देते थे क्योंकि उनके अनुसार पुस्तकें अधिक स्थायी प्रभाव छोड़ती हैं। वे स्पष्ट और सटीक पारिभाषिक शब्दावली के पक्षधर थे तथा चाहते थे कि भारतीय दर्शन की व्याख्या पाश्चात्य चिंतन की भाषा में की जाए, जिससे भारतीय दर्शन और रहस्यवाद के रत्न छिपे न रह जाएँ। यह उल्लेखनीय है कि आज जिस सटीक तकनीकी शब्दावली के महत्व को व्यापक मान्यता प्राप्त है, उसे प्रो. रानडे ने आधी शताब्दी से भी अधिक पहले पहचान लिया था। विवरण-पत्र के आरम्भ में उन्होंने लिखा—

"अकादमी यूरोपीय और भारतीय दर्शन में जो कुछ मूल्यवान है उसका समन्वय करने का प्रयत्न करेगी और आशा है कि भविष्य के लिए ऐसे विचार-निर्माण प्रस्तुत करेगी जिनकी मौलिकता और जिनकी ईश्वर-नगरीय

(Theopolitan) आधारभूमि में ही भारत के एक आध्यात्मिक राष्ट्र के रूप में भविष्य की आशा निहित है।"

इसी उद्देश्य के अंतर्गत उन्होंने 1918 में ही **भारतीय दर्शन का एक विश्वकोशीय इतिहास** लिखने की विस्तृत योजना तैयार कर ली थी। इस प्रकार उन्होंने भारतीयों द्वारा भारतीय दर्शन का इतिहास लिखने की दीर्घकाल से अपेक्षित आवश्यकता को पूरा करने का प्रयास किया। उस योजना की रूपरेखा पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि उसमें दर्शन और धर्म दोनों को समान महत्व दिया गया था तथा संस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार की परम्पराओं को समाहित किया गया था। यह योजना भारतीय दर्शन के व्यवस्थित इतिहास-लेखन में एक नवजागरण का संकेत देती है।

इसके अतिरिक्त, पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक तथा धार्मिक समस्याओं पर आधारित सोलह खण्डों के प्रकाशन की एक अन्य योजना भी तैयार की गई थी। इन दोनों योजनाओं के शीर्षक निम्नलिखित थे—

आठ-खण्डीय योजना (Eight Volume Scheme):

1. The Origins — उद्गम और प्रारम्भिक विकास
2. The Creative Period — सृजनात्मक काल
3. The Synthetic Period — समन्वयात्मक काल
4. The Voice of Dissent — मतभेद और प्रतिपक्ष की धारा
5. The Period of Reconstruction — पुनर्निर्माण का काल
6. The Crowning Phase — परिपूर्णता का चरम चरण
7. Mysticism — साक्षात्कारवाद
8. Modern Tendencies — आधुनिक प्रवृत्तियाँ

षोडश-खण्डीय योजना (Sixteen Volume Scheme)

1. The Pathway to God — ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग
2. Recent Tendencies of European Thought — यूरोपीय चिंतन की नवीन प्रवृत्तियाँ
3. The Metaphysics of Aristotle — अरस्तू का तत्त्वमीमांसात्मक दर्शन

4. The Problems of Metaphysics — तत्त्वमीमांसा की समस्याएँ
5. The Search of Religions for God — धर्मों की ईश्वर-अन्वेषण यात्रा
6. The Mystical Basis of Christianity — ईसाई धर्म का साक्षात्कारवादी आधार
7. The Scientific Approach to God — ईश्वर के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण
8. The Principles of Theopolity — ईश्वराधिष्ठित सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त
9. An Outline of Indian Philosophy — भारतीय दर्शन की रूपरेखा
10. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy — उपनिषद-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण
11. A Critical Survey of Buddhism — बौद्ध दर्शन का समालोचनात्मक सर्वेक्षण
12. The Philosophy of the Bhagavad-Gita — भगवद्गीता का दर्शन
13. Vedanta in Relation to Western Thought — पाश्चात्य चिंतन के संदर्भ में वेदान्त
14. Indian Mysticism — भारतीय साक्षात्कारवाद
15. Contemporary Tendencies of Indian Thought — भारतीय चिंतन की समकालीन प्रवृत्तियाँ
16. Essays and Reviews — निबंध और समीक्षाएँ

भारतीय दर्शन के विश्वकोशीय इतिहास की इस योजना का लोकमान्य तिलक ने हृदय से स्वागत किया और उसकी अत्यन्त प्रशंसा की। सितम्बर 1918 में गुरुदेव, डॉ. एस. के. बेलवलकर तथा डॉ. एन. जी. सरदेसाई के साथ लोकमान्य तिलक से मिलने गए। उस समय लोकमान्य इंग्लैंड-यात्रा की तैयारियों में पूर्णतः व्यस्त थे। फिर भी भारतीय दर्शन का एक समग्र इतिहास लिखे जाने के प्रति उनकी रुचि इतनी प्रगाढ़ थी कि उन्होंने प्रस्तावित योजना पर लगभग छह घंटे तक चर्चा की। उन्होंने इन विद्वानों को इस कार्य को पूर्ण करने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा—"भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना एक महान राष्ट्रीय सेवा है, और आप लोग इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए पूर्णतः योग्य हैं।"

उन्होंने यह भी कहा कि यदि वे राजनीति में न आए होते, तो स्वयं इस विशाल

कार्य को हाथ में लेते।

श्री गुरुदेव ने इस अध्ययन के महत्व को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया—

"आज बीसवीं शताब्दी में, बारह सौ वर्षों के एक और अंतराल के पश्चात्, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में, आधुनिक विज्ञान की अनन्त प्रगति तथा विश्व के दर्शनों और धर्मों के व्यापक अध्ययन के समर्थन से, हम भारतवासी—जो अपने उपनिषद्-प्रदत्त महान आध्यात्मिक पूर्व की विरासत के उत्तराधिकारी हैं—एक अत्यन्त कठिन समस्या के सम्मुख खड़े हैं। यह समस्या है रहस्यात्मक आध्यात्मिक अनुभूति (साक्षात्कारवाद) और बुद्धिवाद का ऐसा समन्वय करना कि उपनिषदों द्वारा संकेतित आत्मानुभूति के सनातन सत्यों के आधार पर जो भी वैचारिक संरचना हम प्रस्तुत करें, वह विज्ञान, दर्शन और धर्म—तीनों के दावों का सामंजस्यपूर्ण संश्लेषण कर सके। ऐसा हो कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति हमारे दार्शनिक दृष्टिकोण को विचलित न करे, बल्कि उसका समर्थन करे; और हमारे वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दोनों दृष्टिकोण इस प्रकार ईश्वर की महिमा को बढ़ाएँ कि 'प्रकृति की श्रृंखला की सर्वोच्च कड़ी भी अंततः ज्यूपिटर के सिंहासन के चरणों से बँधी हुई दिखाई दे।"

वे आगे कहते हैं—

"वर्तमान लेखक का विश्वास है कि उपनिषद् हमें यथार्थ का ऐसा दर्शन प्रदान कर सकते हैं जो मनुष्य की वैज्ञानिक, दार्शनिक और धार्मिक—तीनों प्रकार की आकांक्षाओं को संतुष्ट कर सके; क्योंकि वे ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिसका आधार प्रत्यक्ष, प्रथम-हस्त, सहज एवं रहस्यात्मक (साक्षात्कारात्मक) अनुभव है। ऐसा अनुभव है जिसे कोई विज्ञान अस्वीकार नहीं कर सकता, जिसे समस्त दर्शन अपने प्रयत्नों के अंतिम लक्ष्य के रूप में इंगित कर सकते हैं, और जिसे विभिन्न धर्मों के भीतर निहित अंतःसत्य के रूप में देखा जा सकता है। धर्म आपस में केवल इसलिए संघर्ष करते हैं क्योंकि वे अभी तक एक बिन्दु पर अभिसरित नहीं हो पाए हैं।"

इस प्रकार, सम्पूर्ण विश्व में दिव्य प्रेम का प्रसार करने के सर्वोच्च उद्देश्य को सामने रखते हुए, श्री गुरुदेव ने पाश्चात्य दर्शन और उसकी भाषा की पृष्ठभूमि में आत्म-

साक्षात्कार के मार्ग का प्रतिपादन किया।

"इस प्रकार समस्त विश्व में ईश्वरीय प्रेम का प्रसार करने की इस अत्युच्च भूमिका से श्री गुरुदेव ने पाश्चात्य दर्शन तथा उसकी भाषा की पृष्ठभूमि में साक्षात्कार के मार्ग का प्रतिपादन किया है।"

श्री गुरुदेव महानतम संत हैं। उनका सर्वोत्तम परिचय उनके अपने शब्दों में ही मिलता है—

"केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे साक्षात्कारी पुरुष का जीवन-धर्म यह बन जाता है कि जहाँ कहीं और जब कभी भी उसके लिए संभव हो, वह ईश्वर के संदेश का प्रसार करे। 'एक ईश्वर, एक विश्व, एक मानवता' उसका आदर्श वाक्य होना चाहिए और 'थियो-पॉलिटी' उसका सिद्धान्त। जिसने ईश्वर की एकता अथवा उसकी सर्वव्यापी उपस्थिति का साक्षात्कार कर लिया है, वह अपने जीवन का संचालन इस प्रकार किए बिना नहीं रह सकता कि ईश्वर की महिमा केवल समझी ही न जाए, बल्कि उसकी प्राप्ति भी की जा सके।"

"जहाँ-जहाँ और जब-जब ईश्वर का संदेश प्रसारित करना सम्भव हो, वहाँ-वहाँ और तब-तब उसका प्रसार करना ही ऐसे साक्षात्कारी पुरुष का कर्तव्य रह जाता है और वही उसका जीवन-धर्म बन जाता है। 'एक ईश्वर, एक विश्व, एक मानवता' उसके आचरण का आधारभूत सिद्धान्त होना चाहिए। ईश्वराधिष्ठित विश्वबन्धुत्व ही उसका ध्येय-वाक्य होना चाहिए। ईश्वर एक ही है और वह सर्वत्र व्याप्त है—जिस पुरुष को इसका साक्षात्कार हो गया है, वह अपने आपको केवल इस कार्य के लिए समर्पित किए बिना नहीं रह सकता कि संसार को ईश्वर के ऐश्वर्य का ज्ञान हो; इतना ही नहीं, संसार को ईश्वर के उस ऐश्वर्य की प्राप्ति भी हो।"

|| राजाधिराज सद्गुरूनाथ महाराज की जय ||

– डॉ. वैशाली प्रशांत पाटिल
चिपलूण (महाराष्ट्र)
Mob. No. +91 9960687506

गुरुदेव डॉ. आर. डी. रानडे के व्याख्यान तथा सार्वजनिक सहभागिताएँ

सारांश:

श्री गुरुदेव के चयनित व्याख्यानों, प्रवचनों और दार्शनिक संवादों का अवलोकन करते हुए यह लेख उनके प्रमुख विषयों, उनके प्रभाव तथा श्रोताओं की प्रतिक्रियाओं को उजागर करने का प्रयास करता है। श्री गुरुदेव ने अपना संपूर्ण जीवन परमार्थ के प्रसार के लिए समर्पित किया। यहाँ हम 1915 से 1956 तक की उनकी यात्रा का अनुशीलन करते हैं, जो बैंगलोर, अमलनेर, पुणे, हुबली, आलंदी, धारवाड़, नागपुर, कलकत्ता, अहमदाबाद, इलाहाबाद, बेलगावी, सांगली, नई दिल्ली, विजापुर, जमखंडी और गदग जैसे प्रमुख नगरों तक फैली हुई थी।

हम देखते हैं कि जिन आध्यात्मिक विषयों का वे प्रतिपादन करते थे, उनके प्रति उनके हृदय में सच्ची और गहन श्रद्धा थी; वे केवल बोलने के लिए कभी नहीं बोलते थे। चूँकि वे सदैव गहरी तन्मयता और निष्कपट उत्कटता के साथ बोलते थे, इसलिए उनके शब्द श्रोताओं के हृदय में गहराई तक उतर जाते थे। भक्ति ने उनके विचारों, स्वप्नों और समस्त अस्तित्व को पूर्णतः आच्छादित कर रखा था। विशेष रूप से उनके उत्तरकालीन भाषणों में यह भक्ति निरंतर अभिव्यक्त होती थी—इतनी प्रबल कि श्रोता उनके एक शब्द बोलने से पहले ही उस भक्ति का अनुभव कर लेते थे।

ज्ञानेश्वरी में संत ज्ञानेश्वर के शब्दों में थोड़ा परिवर्तन करके कहा जा सकता है—

"शब्द पाठीं अवतरे। कृपा आधीं" ॥13.263॥

("शब्द तो बाद में प्रकट होते हैं, पहले कृपा होती है।")

गुरुदेव की वाणी का वर्णन इस प्रकार अधिक उपयुक्त रूप से किया जा सकता है—

"शब्द पाठीं अवतरे। भक्ति आधीं"
("शब्द तो बाद में प्रकट होते हैं, पहले भक्ति होती है।")

लेख का समापन कुछ प्रमुख निष्कर्षों के साथ होता है।

A. जुलाई 1915, बैंगलोर
विषय – 'उपनिषदिक दर्शन'

ये व्याख्यान बैंगलोर में संस्कृत अकादमी की स्थापना के अवसर पर बड़ौदा के गायकवाड़ महाराजा की अध्यक्षता में दिए गए थे। इनमें उपनिषदिक चिंतन के सभी प्रमुख तत्त्वों को संक्षिप्त किंतु अत्यंत सुदृढ़ और दार्शनिक क्रम में प्रस्तुत किया गया था।

इन्हीं व्याख्यानों ने गुरुदेव के प्रसिद्ध ग्रंथ **'Constructive Survey of Upanishadic Philosophy'** (उपनिषदिक दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण) के लिए मूल सामग्री प्रदान की। श्री गुरुदेव ने एक बार अपने एक निकट सहयोगी से कहा था—

"मैंने इस ग्रंथ में ऐसी कोई बात नहीं लिखी है, जिसकी सत्यता को मैं अपने स्वयं के अनुभव से प्रमाणित न कर सकूँ।"

ऐसा प्रतीत होता है कि इन व्याख्यानों की बैंगलोर में अत्यंत सराहना हुई। महाराजा ने सुझाव दिया कि—"इन व्याख्यानों को अंग्रेज़ी तथा विभिन्न देशी भाषाओं में मुद्रित कर व्यापक रूप से वितरित किया जाए, जिससे इनमें निहित ज्ञान अधिकाधिक लोगों तक पहुँच सके।"

B. दिसंबर 1928, नागपुर एवं अप्रैल 1954, राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली
विषय – 'The Sublime and the Divine: A Study in Comparative Thought'

प्रारम्भ में ये तीन व्याख्यान नागपुर विश्वविद्यालय के तत्वावधान में *(Kinkhede*

Lectures Series) दिए गए थे। बाद में इन्हें इलाहाबाद और दिल्ली में बढ़ाकर आठ व्याख्यानों तक विस्तारित किया गया।

अंतिम व्याख्यान 16 अप्रैल 1954 को राष्ट्रपति भवन में हुआ, जिसकी अध्यक्षता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने की।

इन्हीं व्याख्यानों ने गुरुदेव के भगवद्गीता विषयक कालजयी ग्रंथ **'The Bhagavadgītā as a Philosophy of God Realisation'** के लिए आधारभूत सामग्री प्रदान की। इस ग्रंथ में वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं—

"भगवद्गीता की **अपूर्वता** (Apūrvatā), उसकी नवीनता और उसका सर्वोच्च योगदान ईश्वर-साक्षात्कार है।"

राष्ट्रपति भवन में गुरुदेव का व्याख्यान सुनने के पश्चात् राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में समाप्त की—"हमें एक अत्यंत उन्नयनकारी (elevating) भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।"

1949 में भारत की संविधान सभा के सदस्य रहे श्री शंकरराव देव भी श्रोताओं में उपस्थित थे। उन्होंने अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहा—"यद्यपि मेरे कान व्याख्यान सुन रहे थे, पर मेरी आँखें उनके मुखमंडल पर टिकी हुई थीं, और मुझे उसमें व्याख्यान से भी अधिक आनंद मिल रहा था। केवल उनके मुख को देखकर ही मुझे ज्ञात हो गया कि यह ऐसे पुरुष हैं जो विश्वात्मा के साथ एकत्व में स्थित हैं। ऐसे महापुरुषों के मुखमंडल—विशेषतः उनकी आँखों—का अवलोकन करने से सहज ही यह अनुभव होता है कि यद्यपि वे इस संसार में सामान्य जीवन जीते हुए प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे किसी बिल्कुल भिन्न लोक में निवास करते हैं।"

C. दिसंबर 1937, नागपुर

विषय – भारतीय दार्शनिक कांग्रेस के 13वें अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण

श्री गुरुदेव ने अत्यंत विनम्रता के स्वर में अपना भाषण आरम्भ किया—

> "भारतीय दार्शनिक कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने जो सम्मान मुझे प्रदान किया है, वह मेरे लिए बहुत बड़ा है। मैं तो अपने छोटे से मार्ग पर विनम्रतापूर्वक कार्य करने वाला एक साधारण व्यक्ति हूँ। इस तेरहवें अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित करके आयोजकों ने मुझ पर जो कृपा की है, उसके लिए मैं उनका अत्यंत ऋणी हूँ। यह सम्मान क्रमशः

सबके पास आता है, और इस वर्ष मैं उसी क्रम का एक सहभागी हूँ। आज मैं आपके सम्मुख केवल उसी नाते उपस्थित हूँ।"

इस भाषण में श्री गुरुदेव ने अपने **'आत्मतत्त्व के दर्शन' (Philosophy of Spirit)** का प्रतिपादन किया। उन्होंने भौतिकी, जीवविज्ञान और तंत्रिका-विज्ञान (Neurology) के क्षेत्र में हुए नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों का भी संदर्भ दिया।

उन्होंने **'Spiriton' (स्पिरिटॉन)** शब्द की रचना की, जो संत ज्ञानेश्वर और अन्य संत-मनीषियों द्वारा प्रयुक्त **'बिंदुले'** शब्द के समतुल्य है।

श्री गुरुदेव ने बुद्धि और भावना, ज्ञान और भक्ति के बीच पूर्ण सामंजस्य एवं सहयोग की आवश्यकता और महत्त्व पर विशेष बल दिया। अंत में, अपने **'एक ईश्वर, एक विश्व, एक मानवता/धर्म'** के आदर्श के अनुरूप उन्होंने कहा कि विश्व में शांति और सौहार्द तभी स्थापित हो सकते हैं, जब मानवता आध्यात्मिक तत्त्व को पहचान ले।

D. अगस्त 1947, अहमदाबाद

विषय – गांधीजी में आध्यात्मिक जागरण

ये व्याख्यान 6, 7 और 8 अगस्त 1947 को दिए गए थे—जो भारत के इतिहास का अत्यंत महत्वपूर्ण सप्ताह था। पूरा राष्ट्र 15 अगस्त 1947 को आने वाले स्वतंत्रता दिवस की प्रतीक्षा कर रहा था।

श्री गुरुदेव ने कहा—"महात्मा गांधी केवल अहमदाबाद के ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारत और विश्व के लिए प्रथम श्रेणी के एक प्रकाश-स्तम्भ थे। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य समस्त मानवता को एक ऐसे ध्वज के नीचे एकत्र करना था, जिसे हम 'एक ईश्वर, एक विश्व, एक धर्म' कह सकते हैं।"

E. अप्रैल 1947, पुणे

विषय – ज्ञानेश्वर (कौशिक व्याख्यानमाला)

यह विवरण उनकी जीवनी से लिया गया एक रूपांतरित अंश है, जिसमें उनके व्याख्यान का उल्लेख मिलता है—

माइक्रोफोन के सामने बोलते हुए उन्होंने अत्यंत भक्तिभावपूर्ण स्वर में आरम्भ

किया। उन्होंने कहा— 'मैं इस वैज्ञानिक यंत्र के माध्यम से बोलने का अभ्यस्त नहीं हूँ; परंतु चूँकि विज्ञान भी अंततः ईश्वर की ही कृतियों का अध्ययन करता है, इसलिए इसके माध्यम से दिया गया संदेश अवश्य ही समस्त विश्व तक पहुँचेगा।'"

इस प्रारम्भ को देखकर सहज ही कल्पना की जा सकती है कि सभा-स्थल में कितनी शीघ्र श्रद्धा और पवित्रता का वातावरण व्याप्त हो गया होगा।

F. दिसंबर 1951, सांगली

विषय – श्री गंगाधरराव देशपांडे के भाषण पर प्रतिक्रिया

श्री गुरुदेव ने कहा— "ईश्वर-साक्षात्कार केवल दीर्घकालीन साधना पर निर्भर नहीं करता। हम यह सुनिश्चित नहीं कह सकते कि पच्चीस करोड़ नाम-जप करने के बाद हमें ईश्वर-दर्शन अवश्य होगा। ईश्वर-साक्षात्कार के लिए हृदय की कोमलता और उसके प्रति तीव्र तृष्णा आवश्यक है। जब ये दोनों उपस्थित हों, तब ईश्वर निकट होता है।

साधना की इस उन्नत अवस्था में गंगाधरराव के हृदय की कोमलता और उनकी तड़प वास्तव में अद्भुत और विलक्षण है। वृद्धावस्था में ऐसी कोमलता विरले ही देखने को मिलती है। जहाँ यह विद्यमान हो, वहाँ ईश्वर दूर नहीं रहता।"

G. जुलाई 1956, जमखंडी

विषय – गुरुदेव के अमृतमहोत्सव (70वें जन्मोत्सव) के अवसर पर विभिन्न विशिष्ट वक्ताओं द्वारा दिए गए भाषणों के पश्चात् गुरुदेव की प्रतिक्रिया

"जो ईश्वर के गुप्त स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करा दे, वही गुरु है — मेरे गुरु गुरु-शब्द की यही व्याख्या करते थे। गुरु वह होता है जो ईश्वर के उस गुप्त स्वरूप के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त कर चुका हो।"

(उनके ग्रंथ Mysticism in Maharashtra *के अंशों पर आधारित अंग्रेज़ी रूपांतरण)*

"केवल उसी को गुरु कहना चाहिए जो हमें ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कराने में समर्थ हो। जो जीवात्मा और विश्वात्मा का ऐक्य करा दे, वही वास्तव में गुरु कहलाने का अधिकारी है।"

H. दिसंबर 1956, गदग

विषय: ईश्वर का नाम (श्री गुरुदेव का अंतिम सार्वजनिक प्रवचन)

इस प्रवचन की अध्यक्षता स्वामी सदाशिवानंद जी ने की थी। गुरुदेव ने संत शरीफसाहेब द्वारा रचित कन्नड़ आध्यात्मिक गीत **'इदे ब्रह्मज्ञान नोडिको'** का विवेचन किया, जिसका मोटे तौर पर अर्थ है — **"ईश्वर के नाम का उच्चारण ही ब्रह्मज्ञान है।"**

उन्होंने अपने एक परम श्रद्धालु शिष्य डॉ. एन. एस. परिपाट्यदार से एक बार कहा था, "इस गीत को ग्रामोफोन पर रिकॉर्ड करो और इसे हर जगह प्रसारित करो। गाँव के साधारण लोगों को भी इसका अर्थ समझ में आना चाहिए।"

निष्कर्ष – मुख्य संदेश

परमार्थ के प्रसार में श्री गुरुदेव ने मुख्य रूप से निम्न बातों पर बल दिया:

- अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभव।
- मानव जीवन के परम लक्ष्य — स्वयं ईश्वर का साक्षात्कार करना तथा दूसरों को भी उसकी ओर प्रेरित करना।
- बुद्धि और भावना के समन्वय पर — *ज्ञान* और *भक्ति* की एकता।
- अपने सिद्धांत **"एक ईश्वर, एक विश्व, एक मानवता"** के प्रचार-प्रसार।
- ईश्वर-साक्षात्कार के लिए आवश्यक पूर्वतैयारी — तीव्र आध्यात्मिक पिपासा तथा हृदय की कोमलता और करुणा का विकास।
- सद्गुरु की वास्तविक भूमिका को स्पष्ट करने।
- ईश्वर-नाम के जप और स्मरण के आध्यात्मिक महत्व।

उनके समस्त जीवनकार्य का सार *ज्ञानेश्वरी* की इस प्रसिद्ध ओवी में अत्यंत सुंदर ढंग से व्यक्त होता है—

"तरि झडझडोनि वहिला निघ ।इये भक्तीचिये वाटे लाग ॥
जिया पावसी अव्यंग ।निजधाम माझें ॥ (९.५१६)"

(अर्थात् — सभी संकोचों और बंधनों को झटककर निकल पड़ो तथा भक्ति के मार्ग पर चलो; इस प्रकार तुम निष्कलंक रूप से मेरे निजधाम को प्राप्त करोगे।)

– श्री भूषण गोखले
(email: Gokhale.bhushan@gmail.com)

ज्ञानोबा की विराणियाँ और परमात्मस्वरूप की दृष्टि

सभी संतों में श्री ज्ञानेश्वर को महानतम संतों में से एक माना जाता है। उनकी आध्यात्मिक महत्ता इतनी विलक्षण है कि वह सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। ज्ञानेश्वर महाराज ने *ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्ठी* तथा *हरिपाठ* जैसे ग्रंथों की रचना की। *ज्ञानेश्वरी* में तत्त्वज्ञान और आत्मज्ञान का अत्यंत सुंदर तथा सामंजस्यपूर्ण संगम देखने को मिलता है। *अमृतानुभव* गहन आध्यात्मिक अनुभूति से समृद्ध एक अद्वितीय कृति है। यह असाधारण माधुर्य और आध्यात्मिक रस से परिपूर्ण ग्रंथ है। स्वयं श्री ज्ञानदेव कहते हैं कि *अमृतानुभव* का मुख्य उद्देश्य उस आत्मज्ञान को संसार के साथ साझा करना और दूर-दूर तक फैलाना है, जो उन्हें अपने सद्गुरु की असीम कृपावृष्टि से प्राप्त हुआ था।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, *चांगदेव पासष्ठी* और *हरिपाठ* भी ज्ञानदेव की मौलिक रचनाएँ हैं। *हरिपाठ* के अभंग वारकरी परंपरा के अनुयायियों के बीच अत्यंत प्रसिद्ध हैं। ज्ञानेश्वर महाराज के अभंग प्राचीन मराठी काव्य की अमूल्य और अविभाज्य धरोहर हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो मराठी अभंगों का जन्म ही परमात्मा-प्रेम की अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए हुआ हो। ईश्वर-प्रेम से परिपूर्ण हृदय की सहज, स्वाभाविक और अत्यंत सुंदर अभिव्यक्ति ही मराठी अभंगों का वास्तविक स्वरूप है।

ऐसा माना जाता है कि संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव वे दो संत थे जिन्होंने अभंग-रचना की परंपरा का प्रारम्भ किया। पारंपरिक मान्यता के अनुसार ज्ञानेश्वर

महाराज ने पहले *ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव* और *चांगदेव पासष्ठी* की रचना की तथा उसके बाद अभंगों की। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि संतों के सत्संग में, और विशेष रूप से संत नामदेव के निकट सान्निध्य में, ज्ञानेश्वर के अंतःकरण में विद्यमान ईश्वर-प्रेम और भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा तथा उनके मुख से अभंगों की सहज धारा स्वतः प्रवाहित होने लगी।

ज्ञानेश्वर महाराज के नाम से लगभग ग्यारह सौ अभंग उपलब्ध हैं। इनमें से वे अभंग, जिनमें सत्संग, नामस्मरण, भगवान के दर्शन की अखंड तड़प, उनसे प्रेमपूर्ण मान-मनुहार अथवा रूठना-मनाना तथा उनके निरंतर चिंतन जैसी अवस्थाओं का वर्णन मिलता है, ज्ञानेश्वर की *विराणियाँ* (विरहिणी-अभंग) कहलाते हैं। इस लेख में हम ज्ञानेश्वर महाराज की कुछ प्रमुख *विराणियों* का अध्ययन करेंगे।

इन विरहिणियों अथवा विराणियों पर विचार करते समय सबसे अधिक विवादास्पद और चर्चित विषय उनके शृंगारिक अभंगों का है। *Selected Abhangas of Dnyaneshwar* नामक पुस्तक में लेखक पी. एन. जोशी ने यह मत व्यक्त किया है कि अनेक विद्वानों को यह स्वीकार करना कठिन लगा कि वैराग्य की पराकाष्ठा माने जाने वाले ज्ञानेश्वर महाराज ने *गवळणियाँ* और *विरहिणियाँ* शृंगार-भाषा में लिखी होंगी। उन्होंने इस विषय पर अपने शोध-प्रबंध तथा अनेक लेखों में विस्तार से चर्चा की है। उन लेखनों में उन्होंने अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि *गवळणियाँ*, विशेषतः *विराणियाँ*, वास्तव में ज्ञानेश्वर महाराज की ही रचनाएँ हैं।

पी. एन. जोशी आगे यह भी बताते हैं कि विनोबाजी ने अपनी पुस्तक *ज्ञानदेवांचे भजन (Bhajans of Dnyandev)* में इन विराणियों को सम्मिलित किया है। विषय का गंभीर और जिज्ञासु विद्यार्थी उपर्युक्त ग्रंथों का अवश्य अध्ययन करे। दूसरी ओर, के. वी. गजेंद्रगडकर, एस. जी. तुळपुळे तथा एस. डी. पेंडसे जैसे अनेक विद्वानों का मत है कि वैराग्य की साक्षात् मूर्ति माने जाने वाले ज्ञानेश्वर महाराज द्वारा ऐसे शृंगारिक अभंगों की रचना की गई हो, यह बात अनुचित, अगम्य और असंभव प्रतीत होती है।

इस लेख में हम उस विवाद में प्रवेश किए बिना, ज्ञानेश्वर महाराज की कुछ अत्यंत सुंदर, भावपूर्ण और उच्च कोटि की काव्यात्मक *विराणियों* को समझने का प्रयास करेंगे।

विराणी क्रमांक १

घनु वाजे घुणघुणा, वारा वाजे रुणझुणा, भवतारकु हा कान्हा,वेगी भेटवा का ॥१॥

चांदवो चांदणे, चापेवो चंदनु, देवकीनंदनुविण, नावडे वो ॥२॥
चंदनाची चोळी, माझे सर्व अंग पोळी, कान्हो वनमाळी वेगी भेटवा का ॥३॥
सुमनाची सेज, शीतळ वो निकी, पोळे आगीसारखी, वेगी विझवा का ॥४॥
तुम्ही गातसा सुस्वरे, ऐकोनि द्यावे उत्तरे, कोकिळे वर जावे, तुम्ही बाईयांनो ॥५॥
दर्पणी पाहता, रूप न दिसे आपुले, बाप रखुमादेवीवरे विठ्ठले, मज ऐसे केले ॥६॥

व्याख्या:

"घनु वाजे घुणघुणा, वारा वाजे रुणझुणा" अत्यंत लोकप्रिय विराणी है, जिसे लता मंगेशकर ने अपने मधुर स्वर में अमर बना दिया है। प्रारम्भिक पंक्तियों में मेघ गंभीर गर्जना कर रहे हैं और वायु भी मधुर झंकार के साथ बह रही है। आकाश में बादल घिर आए हैं और हल्की वर्षा आरम्भ होने वाली है। ऐसे समय में ज्ञानेश्वर महाराज की विरहिणी अत्यन्त व्याकुल हो उठती है और देवकीनन्दन के दर्शन के लिए तड़पने लगती है। यह श्यामवर्ण कान्हा वही है जो जीव को संसार-सागर से पार उतारने वाला *भवतारक* है। उससे मिलने की तीव्र उत्कंठा को वह अब और सहन नहीं कर पाती और अपनी सखियों से विनती करती है—"मुझे शीघ्र उसके पास ले चलो, मुझे उससे मिलवा दो।"

दूसरे पद में वह कहती है—यदि देवकीनन्दन ही साथ नहीं है, तो आकाश में उदित होने वाले चन्द्रमा का क्या प्रयोजन? उसकी शीतल चाँदनी का क्या महत्व? चंपा के सुगंधित पुष्पों की शोभा अथवा चंदन की सुगंध भी उसके लिए निरर्थक है। प्रियतम के बिना इनमें से कोई भी वस्तु उसे आनंद नहीं देती। उसकी अनुपस्थिति में किसी भी वस्तु में आकर्षण नहीं रह जाता।

वह आगे कहती है—"मुझे उस वनमाली से शीघ्र मिलवा दो। यह चंदन का लेप या चंदन की चोली मुझे तनिक भी शीतलता नहीं देती। इसके विपरीत यह मेरे समस्त शरीर को जलाने लगी है और मेरे भीतर की असह्य विरह-व्यथा को और अधिक तीव्र कर रही है।" परमात्मा से वियोग की पीड़ा ने उसके पूरे अस्तित्व को मानो अग्नि में झोंक दिया है। इस दाह का एकमात्र उपचार प्रियतम के दर्शन हैं। इसलिए उसके हृदय में उस सांवले प्रभु को देखने की तीव्र लालसा जाग उठती है। वह सखियों से पुनः प्रार्थना करती है—"मुझे बिना विलम्ब उनके पास ले चलो।"

चौथे पद में वह कहती है—"यह पुष्पों से सुसज्जित शीतल और सुखद शय्या भी मेरे लिए अग्नि के समान दाहक हो गई है। परमात्मा से वियोग के कारण मेरा अंग-

अंग जल रहा है। हे सखियो! शीघ्र आओ और मुझे उनके दर्शन कराकर इस जलन को शांत करो।" वियोग की इस अग्नि का एकमात्र उपाय दिव्य उपस्थिति का स्पर्श है, इसलिए उनसे मिलने की उसकी आकांक्षा और भी प्रबल हो जाती है।

वह अपनी सखियों से कहती है—"तुम मधुर स्वर में गीत गाकर मेरा मन बहलाने का प्रयास कर रही हो, परन्तु कृपया अपने गीतों में कोयल की करुण और विरहपूर्ण कूक को स्थान मत दो। वह मेरे हृदय की व्याकुलता को और बढ़ा देती है तथा मेरी तड़प को असहनीय बना देती है।"

अंतिम पद में यह राधिकाभाविनी कहती है—"श्रीकृष्ण आने वाले हैं और मैंने उनके स्वागत के लिए स्वयं को सजाया है। जब मैं दर्पण में अपना रूप देखने गई, तो आश्चर्यचकित रह गई। वहाँ मुझे अपना प्रतिबिंब दिखाई ही नहीं दिया। उसके स्थान पर मुझे स्वयं विठ्ठल, परमात्मा, दिखाई दिए। रखुमाई के प्रिय विठ्ठल ने मुझे ऐसी प्रेममयी दिव्य अवस्था में पहुँचा दिया है कि मैं प्रेम-विभोर होकर स्वयं को ही भूल गई हूँ। मैं उनसे इतनी एकरूप हो गई हूँ कि अब मेरे भीतर केवल उन्हीं का रूप प्रतिबिंबित होता है।"

इस विरहिणी की तीव्र व्याकुलता का चित्रण ज्ञानदेव ने अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-कौशल से किया है। बादल, वायु, चन्द्रमा, चाँदनी, चंपा के पुष्प, चंदन और कोयल जैसे प्रकृति के विविध उपादानों तथा ध्वनि, सुगंध, उष्णता और शीतलता जैसे गुणों का सहारा लेकर उन्होंने विरह की अनुभूति को अत्यंत प्रभावशाली रूप से व्यक्त किया है। *मधुरा-भक्ति* की भाषा और दिव्य प्रेम की गहन मधुरता के माध्यम से ज्ञानेश्वर साधक की परमात्म-दर्शन और प्रत्यक्ष आत्मानुभूति की तीव्र तड़प को अभिव्यक्त करते हैं।

पूज्य विनोबा भावे ने अपनी पुस्तक *ज्ञानदेवांचे भजन* में इस विराणी की चर्चा करते हुए कहा है कि साधक के जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है जब ईश्वर-वियोग की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है। ऐसी अनुभूति का वर्णन सांसारिक भाषा में करना लगभग असम्भव है। फिर भी मनुष्य की समझ के लिए उसे विरह और तड़प की भाषा में व्यक्त किया जाता है। इस अवस्था में संसार की सभी शीतल और सुखद वस्तुएँ भी भक्त को दाहक प्रतीत होने लगती हैं, और मधुरता भी कटु लगने लगती है।

ज्ञानदेव अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कभी शरीर की ओर देखने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता; कभी कुछ बिल्कुल भिन्न दिखाई देता है; कभी शरीर के स्थान पर स्वयं भगवान का स्वरूप प्रकट होने लगता है; कभी शून्यता का

अनुभव होता है, कभी मोह का, तो कभी तीव्र विरह का। यह एक अत्यन्त विलक्षण और अद्भुत आध्यात्मिक अवस्था है।

*(संदर्भ: **ज्ञानदेवांचे भजन — विनोबा भावे**)*

विराणी क्रमांक 2

पडले दूर देशी, मज आठवे मानसी, नको नको हा वियोग, कष्ट होती जीवासी। (1)
दिनू तैसी रजनी, मज झाली वो माये, अवस्था लावोनी गेला, अजून का न ये? (2)
गरुडवाहना गंभीरा, येई गा दातारा, बाप रखुमाईदेवीवरा, श्री विठ्ठला। (3)

व्याख्या:

"पडले दूर देशी" अभंग को पूजनीय गायिका और *गान सरस्वती* किशोरी ताई ने अत्यंत तीव्र और मार्मिक विरह-भाव के साथ गाकर अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया। इस अभंग में श्री ज्ञानदेव *विरहिणी* की अवस्था का चित्रण करते हैं—वह अपने प्रिय से शारीरिक रूप से अलग है, जो दूर देश चला गया है, किंतु उसका हृदय निरंतर उसके स्मरण में डूबा रहता है, जिससे वह दुःखी और विरह से व्याकुल रहती है।

श्रीकृष्ण की *विरहिणी* कहती है, "अब मैं आपसे यह वियोग सहन नहीं कर सकती। आपके स्मरण से मेरा मन व्याकुल हो गया है और मेरा पूरा अस्तित्व पीड़ा से भर गया है। जैसे दिन में मैं सो नहीं पाती और जागती रहती हूँ, वैसे ही रात में भी आपके स्मरण के कारण मुझे नींद नहीं आती। मैं पूरी तरह आपके ही विचार में डूबी रहती हूँ। रात भी दिन की तरह जागते हुए ही बीत जाती है। मेरे लिए दिन और रात एक समान हो गए हैं। आप मुझे अपने निरंतर स्मरण की इसी अवस्था में छोड़ गए हैं। बार-बार आपका स्मरण आता है, किंतु आप स्वयं नहीं आते। मैं आपके लिए तड़पते हुए पूर्णतः उसी भाव में डूबी रहती हूँ। आप मुझे ऐसी अवस्था में छोड़ गए हैं—फिर अभी तक आते क्यों नहीं?"

आपका वाहन पक्षिराज गरुड़ है, जिसकी गति मन के समान तीव्र है। इसलिए हे गरुड़वाहन, हे गंभीर और महान प्रभु, उस दूर देश से शीघ्र आकर मुझसे मिलिए। हे दातार, हे रखुमाई के प्रिय प्रभु, हे विठ्ठल, बिना विलंब मेरे पास आइए!"

इस प्रकार, *विरहिणी* की वाणी के माध्यम से ज्ञानदेव आत्मा की परमात्मा के प्रति तीव्र लालसा को अत्यंत सुंदर रूप से व्यक्त करते हैं। प्रिय से भौतिक वियोग साधक की परमात्मा के प्रति तड़प का एक गहन प्रतीक बन जाता है। केवल उनका स्मरण ही

हृदय को भर देता है, जबकि उनकी अनुपस्थिति प्रत्येक क्षण को असह्य बना देती है।

यह अभंग अत्यंत सरल और स्पष्ट भाषा में रचा गया है। *ज्ञानेश्वरी* और अभंगों की भाषा तथा विचारों में समानता पर टिप्पणी करते हुए पूज्य गुरुदेव रानडे कहते हैं कि *ज्ञानेश्वरी* के बाद लोकप्रिय हुए अभंगों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक सरल दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि इन अभंगों को लोगों ने अनेक वर्षों तक कंठस्थ रखा और मौखिक रूप से आगे पहुँचाया; बाद में स्मृति के आधार पर उन्हें लिखकर प्रकाशित किया गया। परिणामस्वरूप अभंगों की भाषा अधिक आधुनिक और समझने में सरल प्रतीत होती है।

वे आगे कहते हैं कि ज्ञानदेव के अभंग-साहित्य का अध्ययन करने पर बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि अभंगों में व्यक्त विचार आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि और काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से *ज्ञानेश्वरी* में व्यक्त विचारों के समान ही समृद्ध हैं—बल्कि संभवतः और भी अधिक गहन प्रेरणा से भरे हुए हैं। श्री ज्ञानेश्वर ने अपने अभंगों में अपना संपूर्ण हृदय उड़ेल दिया है। जहाँ *ज्ञानेश्वरी* की अभिव्यक्ति मुख्यतः बौद्धिक है, वहीं अभंगों की अभिव्यक्ति मुख्यतः भावात्मक और भक्तिपूर्ण है। गुरुदेव रानडे का मत है कि श्री ज्ञानेश्वर की गहन आंतरिक भावनाएँ, उनके विविध और उच्च कोटि के आध्यात्मिक अनुभव तथा उनकी विश्व-दृष्टि, *ज्ञानेश्वरी* की तुलना में उनके अभंगों में अधिक व्यापक और पूर्ण रूप से व्यक्त हुई हैं।

Selected Abhangas of Dnyaneshwar नामक पुस्तक में पी. एन. जोशी कहते हैं कि अन्य स्थानों पर भी ज्ञानेश्वर हृदय की तीव्रता और पीड़ा को व्यक्त करने के लिए उसी प्रकार *शृंगार* की भाषा का प्रयोग करते दिखाई देते हैं, जैसा वे *विराणियों* में करते हैं। ज्ञानेश्वर गोकुल के श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप का भी सजीव वर्णन करते हैं। *ज्ञानेश्वरी* और *अमृतानुभव* में जीव और शिव की एकता का वर्णन करते समय ज्ञानेश्वर ने अनेक स्थानों पर प्रेम की कल्पना और बिंबों से युक्त भाषा का प्रयोग किया है। परमात्मा की भक्ति के मूल में प्रेम ही स्थित है।

वे आगे यह भी बताते हैं कि *नारद भक्ति सूत्र* में भी दिव्य प्रेम में विरह और मिलन के आदर्श का वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है—*"यथा व्रज-गोपिकानाम्।"* इसी कारण इन *विराणियों* में निहित आध्यात्मिक ज्ञान परमात्मा के प्रति भक्ति को उसके सर्वोच्च स्तर तक ले जाता है।

यही विचार अभंग **"पंढरपुरीचा निळा, लावण्याचा पुतळा, विठा देखियेला डोळा, बाई ये वो!"** में भी व्यक्त होता है। अब हम इस *विराणी* की ओर बढ़ते हैं।

विराणी क्रमांक 3

पंढरपुरचा निळा, लावण्याचा पुतळा, विठा देखियेला डोळा, बाई ये वो! (1)
वेधले वो मन, तयाचिया गुणी, क्षणभर न विसंबे, विठ्ठल रुक्मिणी। (2)
पौर्णिमेचे चांदणे, क्षणक्षणा होये उणे, तैसे माझे जिणे, एका विठ्ठले विण। (3)
बाप रखुमादेवीवरु, विठ्ठलूची पुरे, चित्त उंदारा मुरे, बाई ये वो! (4)

व्याख्या:

प्रख्यात गायक राहुल देशपांडे के स्वर में *"पंढरपुरचा निळा, लावण्याचा पुतळा, विठा देखियेला डोळा"* इस विराणी को सुनना एक अत्यंत आनंददायक, लगभग दिव्य अनुभव है। इस अभंग में ज्ञानेश्वर महाराज की *विरहिणी* कहती है, "मैंने अपनी आँखों से पंढरपुर के उस नीलवर्ण विठ्ठल का दर्शन किया है। वे सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। मैं उनके दिव्य रूप पर मोहित हो गई हूँ, परन्तु उससे भी अधिक उनके गुणों ने मेरे हृदय को अपने वश में कर लिया है। मेरा मन श्री विठ्ठल की ओर पूर्णतः आकर्षित हो गया है। उनके नीलवर्ण रूप के दर्शन का आनंद प्राप्त करने के बाद अब मैं रुक्मिणी के प्रिय विठ्ठल को एक क्षण के लिए भी नहीं भूल सकती।"

इसके बाद वह एक अत्यंत सुंदर उपमा प्रस्तुत करती है। विरहिणी कहती है कि पूर्णिमा की रात्रि में अपनी सोलहों कलाओं सहित पूर्ण तेज से प्रकाशित होने वाला चन्द्रमा प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा क्षीण होता जाता है और अंततः अमावस्या की रात्रि में पूर्णतः अदृश्य हो जाता है। उसी प्रकार मेरा जीवन भी क्षीण होता जा रहा है। यदि मुझे उस सांवले, प्रिय प्रभु का दर्शन न मिले और उनकी दिव्य उपस्थिति का अनुभव न हो, तो मेरा जीवन भी उसी चन्द्रमा की भाँति अंधकार में विलीन हो जाएगा जो अमावस्या की रात लुप्त हो जाता है। वह संकेत देती है कि विठ्ठल से वियोग धीरे-धीरे उसके जीवन को निराशा और दुःख से भर देगा।

इसलिए रखुमाई के प्रिय श्री विठ्ठल ही उसके लिए सब कुछ हैं। उसी में उसे पूर्ण तृप्ति प्राप्त हुई है। उसका शरीर, वाणी और मन—सब कुछ उन्हीं में विलीन हो गया है। एक अन्य अभंग *"रूपे उंदरा सावळा गे माय"* में ज्ञानेश्वर पंढरपुर के विठोबा का वर्णन *सावळा*—अर्थात् श्यामवर्ण और सुंदर—के रूप में करते हैं। किन्तु यहाँ वे *निळा* अर्थात् नीलवर्ण, सौन्दर्य की मूर्तिमान प्रतिमा के रूप में वर्णित किए गए हैं।

श्री ज्ञानदेव के आध्यात्मिक अनुभव अत्यंत विविध और उच्च कोटि के थे। कभी उन्हें आंतरिक प्रकाश का अनुभव होता था; कभी दिव्य नाद का; कभी आनन्द का;

कभी साकार दिव्य स्वरूप का; और कभी रंगों के रूप में आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त होती थी। इस संदर्भ में गुरुदेव रानडे कहते हैं कि मस्तिष्क के भीतर *सहस्रार* स्थित है—वह सहस्रदल कमल जो दिव्य सत्ता का निवासस्थान है और जहाँ से आत्मानन्द का उद्भव होता है। साधक की शुद्ध हुई अंतर्दृष्टि के माध्यम से लाल, श्वेत, नील और पीले जैसे विभिन्न रंग और आभाएँ अनुभव में आने लगती हैं।

अपने एक अभंग में ज्ञानदेव कहते हैं कि वे काले, नीले और कपोतवर्ण (धूसर) रंगों की झलकियाँ देखते हैं। उनकी दृष्टि एक अदृश्य दर्शन में तल्लीन हो जाती है और वे कामना करते हैं कि यह नीलिमा सदैव उनके अंतःकरण में स्थापित रहे। इसी देह में रहते हुए भी आत्मा का शुद्ध प्रकाश उनकी दृष्टि के सम्मुख प्रकट हो जाता है।

वे कहते हैं कि वह प्रभु ऐसे रूप में प्रकट हुए जो अमूल्य था और जिसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। उस सांवले प्रियतम ने मेरे हृदय को भीतर और बाहर से पूर्णतः भर दिया है। उस नीलवर्ण, परम और विश्वस्वामी के दर्शन के बाद उसका वर्णन करने के लिए शब्द अपर्याप्त पड़ जाते हैं। वही आत्मा है। मैंने उसे अपनी इन आँखों से देखा है और वह अविनाशी है।

अन्य अभंगों में भी श्री ज्ञानदेव इस दिव्य नीलिमा के अपने अनुभव का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं—"नीली रात्रि में वह नीलवर्ण प्रभु लुका-छिपी खेलता है; वह स्वयं को प्रकट करता है और अपने नील रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह नीलिमा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो गई है। मैंने उस नील परमात्मा का दर्शन किया है और वही नील रंग सर्वत्र फैल गया है। विशाल आकाश भी मानो उसी नीलिमा में विलीन हो गया है। कृष्णस्वरूप नील परब्रह्म मेरे हृदय में निवास करता है।" ऐसे अनेक कथनों के माध्यम से श्री ज्ञानदेव अपनी दिव्य नीलिमा की गहन अनुभूति का वर्णन करते हैं।

इस नील रूप के दर्शन के पश्चात् विरहिणी ने ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है—उस आनन्द का जो इन्द्रियों से परे है। वह उस अलौकिक दर्शन से प्राप्त परमानन्द से वंचित नहीं होना चाहती। पंढरपुर के विठोबा की नील आभा में उसे जो आनन्द प्राप्त हुआ है, वही उसके लिए पूर्ण और पर्याप्त है। उसका *चित्त*, उसका समस्त मन और हृदय, उस दिव्य चेतना में पूर्णतः निमग्न हो गया है। वह उसी *चैतन्य* में विलीन होकर अपनी अंतिम विश्रांति प्राप्त कर चुका है।

यहाँ प्रसिद्ध मराठी कवि बी. बी. बोरकर की अनेक कविताओं में वर्णित कृष्ण की दिव्य नीलिमा का स्मरण भी हो आता है। एक अन्य अभंग में ज्ञानेश्वर कहते हैं कि वे स्वयं भी उस नीलवर्ण परमात्मा के साथ एकरूप हो गए हैं; वे पूर्णतः उस दिव्य नीलिमा

में डूब गए हैं और उसी के रंग में रंग गए हैं।

संक्षेप में, इन *विराणियों* से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानेश्वर इन्द्रिय-सुखों का गान नहीं कर रहे हैं, बल्कि परमात्मा के साथ एकत्व के आनन्द का—अद्वैत के उस परमानन्द का—गान कर रहे हैं।

विराणी क्रमांक 4

पाचा दामांचा घोंगडा नेसेन, उरली मोट ते मी जेवीन गे बाईये। (1)
कामारी कामारी कामारी होऊन, या गोपाळाचे घर रिघेन गे बाईये। (2)
त्याचा उंबरा उशीसा करीन, वरी येऱझारा मी सारीन गे बाईये। (3)
निवृत्ती ज्ञानदेवा पुसतील वर्म, त्यासी कामीण पुरेना गे बाई ये। (4)

व्याख्या:

श्री बालकृष्ण दादा वसंतगडकर ने ज्ञानेश्वर महाराज की इस *विराणी* को अत्यंत गहन विरह-भाव और तीव्रता के साथ गाया है। अब हम इसके अर्थ की ओर ध्यान दें।

इस *विराणी* में ज्ञानेश्वर महाराज की *विरहिणी* विठ्ठल से कहती है, "मुझे केवल आपके दिव्य स्वरूप का दर्शन प्रदान कीजिए; वही दर्शन मुझे जन्म-मृत्यु के इस अनवरत चक्र से मुक्त कर देगा।" वह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहती। अपनी तीव्र लालसा में वह विठ्ठल से कहती है, "यदि मेरे पास पहनने के लिए केवल पाँच दाम का एक मोटा और साधारण घोंगड़ा (कम्बल-जैसा वस्त्र) ही हो, तो भी मैं उसे प्रसन्नतापूर्वक धारण करूँगी। मुझे न तो बहुमूल्य वस्त्रों की इच्छा है, न कढ़ाईदार परिधानों की। मुझे स्वादिष्ट भोजन की भी कोई चाह नहीं है। हे श्रीहरि! आपके भोजन के पश्चात् जो चार ग्रास शेष रह जाएँगे, उन्हीं से मैं संतुष्ट रहूँगी।"

"मैं इस गोपाल के घर में उसके सेवक की भी सेविका बनकर रहूँगी। मुझे किसी पद, प्रतिष्ठा या अधिकार की आकांक्षा नहीं है। आपके दर्शन प्राप्त करने के लिए मैं हर प्रकार का कष्ट सहने को तैयार हूँ। मैं आपके घर में निवास करूँगी, अथवा श्रीहरि के द्वार की देहली को ही अपना तकिया बनाकर वहीं पड़ी रहूँगी। ऐसा करने से जन्म और मृत्यु के चक्र में मेरा यह अनंत भटकाव समाप्त हो जाएगा।"

इस प्रकार, विठ्ठल-दर्शन की तीव्र लालसा से व्याकुल यह *विरहिणी* केवल उनकी उपस्थिति और उनके दिव्य दर्शन की अभिलाषा रखती है। उसकी एकमात्र इच्छा जन्म-मृत्यु के इस अंतहीन चक्र का अंत करना है। वह *जीवनमुक्ति*—जीते-जी

मुक्ति—की आकांक्षी है और जानती है कि परमात्मा का प्रत्यक्ष और तत्काल दर्शन ही उसे मुक्त कर सकता है।

ज्ञानेश्वर महाराज अंत में कहते हैं, "यदि मेरे सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ मुझसे इस तड़प का रहस्य पूछें, तो उनकी कृपा से मैं इस इच्छा को भी पूर्ण करूँगा—श्रीकृष्ण का विनम्र सेवक बनकर उन्हें अपना उत्तर दूँगा।"

गोकुल की सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण को अपना प्रियतम मानती थीं और उन्होंने अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर दिया था। ऐसी स्थिति में वे मुक्ति प्राप्त किए बिना बंधन में कैसे रह सकती थीं? उनकी भक्ति की तीव्रता ही ऐसी थी। श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम पूर्ण और निष्कलंक था। वे अपना सब कुछ उन्हें अर्पित करने तथा उनके लिए किसी भी प्रकार का कष्ट सहने को तैयार थीं। यद्यपि उनकी भाषा शृंगारमयी प्रतीत होती है और उनके उपमान भी प्रेम की भाषा से लिए गए हैं, किन्तु उसके मूल में केवल अटूट और निर्मल भक्ति ही विद्यमान है। ज्ञानेश्वर जैसे महान भक्त और योगी के लिए ऐसी भाषा केवल एक माध्यम बन जाती है—उच्चतम कोटि की भक्ति-अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आवश्यकता-वश अपनाया गया माध्यम।

ज्ञानेश्वर महाराज के अभंगों के अध्येता और विद्वान श्री पी. एन. जोशी अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि ज्ञानेश्वर महाराज की *गावळणियों* और *विराणियों* को इसी दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है। जब संत भक्ति की तीव्रता, हृदय की गहन तड़प, मन की व्यथा और परमात्मा से मिलन के असीम आनन्द जैसी अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहते हैं, तब कभी-कभी उन्हें प्रेम की भाषा का सहारा लेना पड़ता है। इसका कारण यह है कि स्वयं ज्ञानदेव ने भी अन्यत्र हृदय की तीव्रता और वेदना को व्यक्त करने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किया है।

अतः श्री ज्ञानेश्वर के साहित्य और दर्शन का, विशेषकर उनके काव्य के इन पक्षों का, गहन अध्ययन करने के इच्छुक भावी विद्वानों और शोधकर्ताओं के लिए अभी भी पर्याप्त संभावनाएँ और व्यापक अध्ययन-क्षेत्र उपलब्ध हैं।

संदर्भ

1. जोशी, पी. एन., *ज्ञानेश्वरांचे निवडक अभंग (Selected Abhangas of Dnyaneshwar)*, स्नेहवर्धन पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 14 फ़रवरी 1999।

2. भावे, विनोबा, *ज्ञानदेवांचे भजन (Bhajans of Dnyandev)*, परंधाम प्रकाशन, पवनार, 13वाँ संस्करण, 2012।

3. रानडे, गुरुदेव; प्रोफेसर गजेंद्रगडकर द्वारा अनूदित, *श्री गुरुदेव रानडे (Shri Gurudev Ranade)*, श्री गुरुदेव रानडे समाधि ट्रस्ट, निम्बाल, तृतीय संस्करण, 2006।

– डॉ. संध्या जोशी, मुंबई
ssjmumbai@yahoo.com
Mobile: 983385237

ईश्वर को देखना ही ईश्वर होना है। वास्तव में केवल वही है। जब तुम सबमें ईश्वर को देखते हो, तो क्या तुम ईश्वर का चिंतन करते दाहर नहीं? चारों ओर ईश्वर को देखने के लिए तुम्हें निश्चित ही ईश्वर का स्मरण करना होगा। तुम यह और वह देखते हो, फिर ईश्वर को क्यों नहीं देखते? वास्तव में सभी लोग सदैव ईश्वर को ही देख रहे हैं, पर वे उसे 'जानते' नहीं। पहले यह जानो कि ईश्वर क्या है।

– भगवान श्री रमण महर्षि

पूज्य श्री गुरुदेव रानडे का आध्यात्मिक मार्ग

निंबरगी संप्रदाय का मूल तत्त्व, जिसकी नींव श्री निंबरगी महाराज ने रखी और जिस पर श्री गुरुदेव रानडे ने शिखर स्थापित किया, परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसी के अनुसार आत्मसाक्षात्कार मानव जीवन का परम लक्ष्य है। परमेश्वर के ऐसे प्रत्यक्ष साक्षात्कार को प्राप्त करने का मुख्य साधन वह *सबीज नाम* है, जो परम करुणामय सद्गुरु अपने शिष्य को प्रदान करते हैं, तथा उससे संबंधित साधना—अर्थात् एकनिष्ठ भाव से नाम का अखंड स्मरण। इस प्रकार आध्यात्मिक मार्ग का प्रारम्भ सद्गुरु से होता है। अतः पहला कदम है सद्गुरु के स्वरूप को समझना, सद्गुरु के लक्षणों को जानना और आध्यात्मिक यात्रा में सद्गुरु की भूमिका को समझना। इसके बाद विचार करना होता है साधना के हृदयस्थ तत्व—*नाम*—का, उसके महत्त्व और उसकी शक्ति का। आत्मसाक्षात्कार का मार्ग सद्गुरु की कृपा से प्राप्त *सबीज नाम* के साथ किए जाने वाले ध्यान से प्रशस्त होता है।

तब प्रश्न उठता है कि यह *सबीज* नाम क्या है? यह वह नाम है जिसे सद्गुरु ने अत्यन्त उच्च आध्यात्मिक अवस्था में प्राप्त किया होता है और जिसे वे अपने शिष्य को प्रदान करते हैं। इस प्रकार नाम का उद्गम सद्गुरु के पारलौकिक आध्यात्मिक अनुभव में निहित होता है। इसे *सबीज* इसलिए कहा जाता है कि जब साधना आध्यात्मिक परिपक्वता की एक निश्चित अवस्था तक पहुँचती है, तब यही नाम साधक के लिए परमेश्वर के अन्य नामों के साक्षात्कार का माध्यम बन जाता है। निंबरगी संप्रदाय में इसे **"नाम का नाम बन जाना" (नेम बिकमिंग नेम)** कहा गया है। सद्गुरु की दीक्षा और

उपदेश के द्वारा यह नाम शिष्य के मन में गहराई से प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः अगला कदम ध्यान की प्रक्रिया को समझना है।

उपर्युक्त सद्गुरु और नाम—ये दोनों हमें पूर्वजन्मों के संचित पुण्य के प्रभाव से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु तीसरा और समान रूप से महत्त्वपूर्ण तत्व—ध्यान की प्रक्रिया—ऐसी वस्तु नहीं है जो केवल प्राप्त हो जाए; उसे अभ्यास के द्वारा विकसित करना पड़ता है। श्री गुरुदेव ने अपने लगभग सभी ग्रंथों में इस अभ्यास को विकसित करने की विधि का अत्यन्त उत्कृष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। *पाथवे टू गॉड इन हिन्दी लिटरेचर, पाथवे टू गॉड इन कन्नड़ लिटरेचर* तथा द *भगवद्गीता ऐज़ अ फिलॉसफी ऑफ गॉड-रियलाइज़ेशन* में उन्होंने **"तीर्थयात्रा"** और **"ध्यान की पद्धति"** शीर्षकों के अंतर्गत ध्यान-प्रक्रिया का विस्तार से निरूपण किया है। यही ध्यान-प्रक्रिया हमें स्पष्ट रूप से समझनी है।

इस ग्रंथ में मुख्य आधार के रूप में श्री गुरुदेव के द *भगवद्गीता ऐज़ अ फिलॉसफी ऑफ गॉड-रियलाइज़ेशन* में प्रतिपादित ध्यान-प्रक्रिया को ग्रहण किया गया है, और साथ ही उनके अन्य ग्रंथों में उसी विषय पर प्राप्त संबंधित विचारों को भी उपयुक्त शीर्षकों के अंतर्गत संकलित करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक में उन्होंने ध्यान-प्रक्रिया को तीन पृथक् शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया है।

ध्यान और चिंतन की विधियाँ

अ. बौद्धिक एवं दार्शनिक चिंतन

(यह विशेष रूप से उन लोगों के लिए उपयोगी है जिनकी प्रवृत्ति दर्शन और बौद्धिक जिज्ञासा की ओर होती है।)

ब. सद्गुण-चिंतन

(नैतिक चिंतन; यह विशेष रूप से उन लोगों के लिए उपयोगी है जिनकी प्रवृत्ति नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की ओर होती है।)

स. आध्यात्मिक चिंतन अथवा ध्यान

(यह साधना सभी के लिए लाभकारी और सुलभ है।)

यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या पहली दो विधियाँ सभी के लिए प्रासंगिक हैं।

परन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में दार्शनिक, बौद्धिक अथवा नैतिक प्रवृत्ति होती ही है; इसलिए उसकी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार इन विधियों का अपना महत्त्व और उपयोग है।

बौद्धिक एवं दार्शनिक चिंतन — वैचारिक ध्यान (ईश्वर की अवधारणा पर ध्यान)
यह एक ऐसी पद्धति थी जो श्री गुरुदेव की स्वयं की आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि और अनुभूति से उद्भूत हुई थी। यह विशेष रूप से उन लोगों के लिए सहायक हो सकती है जिनकी प्रवृत्ति दर्शन और बौद्धिक अन्वेषण की ओर है। इस पद्धति में साधक ईश्वर के गुणों का चिंतन करता है।

श्री गुरुदेव कहते हैं कि ईश्वर के निम्नलिखित दस गुणों का चिंतन किया जा सकता है—

1. पुरुषोत्तम — परम पुरुष, सर्वोच्च सत्ता।

२. सूत्र — समस्त अस्तित्व को एक सूत्र में बाँधने वाला आधार।

३. वैश्वानर — विश्वरूप जीवन-तत्त्व अथवा सार्वभौमिक सत्ता।

४. रवि — दिव्य प्रकाश।

५. मायी — माया का स्वामी और नियन्ता।

६. रस — दिव्य आनन्द का सार।

७. तज्जलान — वह जिससे सब उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा सब धारण किया जाता है और जिसमें सब पुनः लीन हो जाता है।

८. अतिष्ठान — समस्त विश्व का आधार और आश्रय।

९. ज्ञेय — वह जिसे जाना जाना चाहिए।

१०. आश्चर्य — अद्भुत, विस्मयकारी और चमत्कारमय।

इस प्रकार परमेश्वर के गुणों के चिंतन का एक विशाल ्षेत्री हमारे सामने उपस्थित होता है। *ध्यानोपकारिणी गीता* में श्री गुरुदेव ने ध्यान के सहायक साधन के रूप में इसी विभाग को सम्मिलित किया है। आध्यात्मिक साधकों के लिए यह भी लाभदायक होगा कि वे ध्यान और चिंतन के लिए बैठने से पूर्व इस विभाग का अध्ययन करें।

फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि केवल ऐसा चिंतन ही ईश्वर-साक्षात्कार तक पहुँचा देगा। तथापि श्री गुरुदेव ने कहा है कि यह साधक को आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग पर कम-से-कम कुछ कदम आगे बढ़ने में अवश्य सहायता कर सकता है।

नैतिक चिंतन (सद्गुणों का चिंतन)

जो लोग किसी व्यक्तिगत ईश्वर अथवा ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखते, वे स्वयं सद्गुणों के माध्यम से ईश्वर का चिंतन कर सकते हैं। इस प्रकार का **'सद्गुण-चिंतन'** थियोसोफिकल सोसाइटी में भी एक आध्यात्मिक साधना के रूप में किया जाता है।

किन सद्गुणों का चिंतन करना चाहिए?

इन सद्गुणों का वर्णन *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में किया गया है।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १६.१ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १६.२ ॥

इन श्लोकों में उन दैवी गुणों का वर्णन किया गया है जिनका साधक को चिंतन और संवर्धन करना चाहिए—**निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में दृढ़ता, दान, इन्द्रियनिग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली का अभाव, समस्त प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा तथा स्थिरता।**

इनमें से **अहिंसा, शुद्धता, आत्मसंयम, समत्व, धैर्य, करुणा, विनम्रता** और **क्षमा** विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु क्या केवल सद्गुणों का ध्यान करना ही पर्याप्त है? *गीता* में वर्णित निर्भयता और अन्तःकरण की शुद्धि का केवल चिंतन करने से क्या उद्देश्य सिद्ध होगा?

अरस्तू का मत है कि **"सद्गुण कर्म है।"** ज्ञानेश्वर महाराज सिखाते हैं कि ज्ञान की अभिव्यक्ति व्यक्ति के आचरण में होनी चाहिए। सदाचारपूर्ण कर्मों के द्वारा ही चरित्र का रूपान्तरण होता है और सद्गुण व्यक्ति के स्वभाव का अंग बन जाते हैं। श्री गुरुदेव इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं—**"सद्गुण ही ज्ञान है।"**

अपने ग्रंथ *ध्यानगीता* में, *सद्गुणसमुच्चय* नामक विभाग में सद्गुणों की सूची प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उसे अत्यन्त उपयुक्त रूप से **"सद्गुणानां ज्ञानभेदः"** शीर्षक दिया है, जिसका अर्थ है—**"सद्गुण और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।"**

समग्र रूप से देखें तो श्री गुरुदेव ने इन सद्गुणों को अपने चरित्र में आत्मसात करने पर अत्यन्त बल दिया है। केवल इतना करने से ईश्वर-साक्षात्कार अवश्य हो जाएगा,

ऐसा नहीं कहा जा सकता; तथापि गुरुदेव कहते हैं कि इससे **"बारूद तैयार हो जाता है।"** जब बारूद तैयार हो जाता है, तब केवल एक चिनगारी ही पर्याप्त होती है जो एक महान आध्यात्मिक विस्फोट का कारण बन सकती है। इस प्रकार नैतिक सद्गुणों का चिंतन और उन्हें अपने जीवन में धारण करना आध्यात्मिक मार्ग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

आध्यात्मिक चिंतन

इन सभी में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है **आध्यात्मिक चिंतन अथवा प्रत्यक्ष ध्यान**। श्री गुरुदेव कहते हैं कि इस प्रकार का चिंतन सभी के लिए लाभदायक है। सभी महान आध्यात्मिक साधकों ने इसी साधना का अनुसरण किया है।हमें यह समझना आवश्यक है कि इस साधना में कौन-से तत्व प्रधान हैं और कौन-से गौण। यहाँ जिन बातों की चर्चा की जा रही है, वे सभी साधकों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं—चाहे वह साधना के मार्ग पर नया हो, अनुभवी साधक हो, अथवा जिसने आध्यात्मिक पथ पर पर्याप्त प्रगति कर ली हो।

श्री गुरुदेव ने इस चिंतन-प्रक्रिया के चार अंग बताए हैं:

१. **शारीरिक प्रक्रिया** *(The Physical Process)*
२. **मानसिक प्रक्रिया** *(The Mental Process)*
३. **भक्ति-पक्ष** *(The Devotional Aspect)*
४. **दिव्य कृपा** *(Divine Grace)*

जब इन चारों अंगों की पूर्णता हो जाती है, तब कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक चिंतन अथवा ध्यान की यह पद्धति अपने उद्देश्य को प्राप्त कर चुकी है।

१. शारीरिक प्रक्रिया:

१) आसन

बहुत से लोग यह मानते हैं कि ध्यान में आसन की सिद्धि ही सब कुछ है, और एक बार आसन सिद्ध हो जाए तो साधना का मुख्य कार्य पूर्ण हो जाता है। किन्तु श्री गुरुदेव स्पष्ट करते हैं कि ऐसा नहीं है। यद्यपि आसन की सिद्धि साधक को आध्यात्मिक मार्ग पर बहुत दूर तक नहीं ले जाती, फिर भी उसका अपना एक निश्चित महत्त्व है। अतः साधक को उससे प्राप्त होने वाले लाभ का उचित उपयोग करना चाहिए।

पतञ्जलि कहते हैं—"स्थिरसुखमासनम्"। अर्थात् आसन स्थिर और सुखद होना

चाहिए। मन को स्थिर करने के लिए पहले शरीर को स्थिर करना आवश्यक है। चलते-फिरते नाम-जप करने से यह आभास हो सकता है कि साधना एकाग्रता के साथ हो रही है, किन्तु वास्तविक स्थिरता और एकाग्रता इस प्रकार उत्पन्न नहीं होती।

सुखासन के विषय में श्री गुरुदेव कहते हैं कि ऐसा कोई भी आसन, जिसमें साधक लंबे समय तक आराम से बैठ या लेट सके और प्रसन्न एवं शांत मन से भगवान का ध्यान कर सके, उपयोगी आसन है। अपने *योगसूत्रों* में पतञ्जलि भी ऐसे आसन की बात करते हैं जिसमें साधक लंबे समय तक ध्यान में स्थित रह सके, मन सहजता और संतोष से भर जाए तथा उस आसन को बदलने की इच्छा न हो।

आजकल के युवाओं द्वारा अपनाए जाने वाले कठोर और अकड़े हुए आसन श्री गुरुदेव को विशेष पसंद नहीं थे। वे ऐसे आसन को अधिक महत्त्व देते थे जिसमें विनम्रता और सहजता झलकती हो। दूसरे शब्दों में, बैठने की मुद्रा से भी नम्रता का भाव प्रकट होना चाहिए।

२) श्वास-नियंत्रण

श्वास का नियंत्रण अनेक लाभदायक परिणाम उत्पन्न करता है। इससे फेफड़ों की कार्यक्षमता और स्फूर्ति बढ़ती है, हृदय सुदृढ़ होता है, मस्तिष्क को ऑक्सीजन की आपूर्ति अधिक होती है तथा शरीर की सभी कोशिकाओं में नवीनता और जीवंतता आती है। किन्तु केवल इन शारीरिक लाभों के माध्यम से परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती।

भगवद्गीता कहती है—"प्राणापानौ समौ कृत्वा"—अर्थात् प्राण और अपान को सम करना। सामान्यतः अपान, प्राण की अपेक्षा थोड़ा अधिक प्रभावशाली होता है। किन्तु जब प्राण और अपान सम हो जाते हैं, तब कहा जाता है कि मन भी समत्व की अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए साधक को यह सलाह दी जाती है कि वह श्वास भीतर लेते समय जितनी बार नाम का जप करे, उतनी ही बार श्वास बाहर छोड़ते समय भी करे।

किन्तु यह अभ्यास केवल यांत्रिक नहीं बन जाना चाहिए। श्री गुरुदेव के सद्गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज कहा करते थे—"इसे प्रेम और स्नेह से बाँधो।" अर्थात् श्वास का नियमन प्रेम और भक्ति के साथ होना चाहिए। जब यह अभ्यास निरन्तर चलता रहता है, तब धीरे-धीरे और सहज रूप से श्वास स्वयं ही स्थिर होने लगती है, बिना इस प्रयास के कि साधक उसे रोकने का प्रयत्न करे। इस अवस्था को केवल कुम्भक कहा जाता है। श्री गुरुदेव कहते हैं कि यह अवस्था उच्चतर आध्यात्मिक चिंतन के लिए

अत्यन्त अनुकूल है।

शंकराचार्य ने भी केवल कुम्भक को कुम्भक का सर्वोच्च रूप माना है— "सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः, सम्भाव्यते केवल-कुम्भ एव।" अर्थात् हठयोग में कुम्भक के हजारों प्रकार बताए गए हैं, किन्तु केवल कुम्भक ही सर्वोच्च और सर्वाधिक स्वाभाविक माना जाता है।

श्री गुरुदेव आगे कहते हैं—

"यह ऐसा कुम्भक है जिसमें कुम्भक करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता।" अर्थात् यह वह अवस्था है जो किसी जान-बूझकर किए गए प्रयास से प्राप्त नहीं होती। वे इसका वर्णन इस प्रकार भी करते हैं—"यह श्वास अथवा श्वासरहितता की ऐसी अवस्था है जो अपने-आप उत्पन्न होती है।" अतः यह ऐसी स्थिति है जो बिना किसी सचेत प्रयास के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में शरीर और मन दोनों समत्व अथवा संतुलन की अवस्था में स्थित रहते हैं।

३) दृष्टि

भगवद्गीता साधक को अपनी दृष्टि नासिका-अग्र पर स्थिर रखने का उपदेश देती है। श्री गुरुदेव स्पष्ट करते हैं कि नासिकाग्र-दृष्टि के दो अर्थ हो सकते हैं—नाक का अग्रभाग अथवा नाक का ऊपरी भाग। अर्थात् दृष्टि को नाक के नीचे के सिरे पर या उसके ऊपरी भाग पर स्थिर किया जा सकता है।

इस प्रकार दृष्टि को स्थिर करने से आँखों को बाह्य विषयों से हटाकर भीतर की ओर मोड़ने में सहायता मिलती है। इसके पश्चात् साधक अपनी दृष्टि उस रूप अथवा विषय पर स्थिर कर सकता है जिसका वह चिंतन करना चाहता है। किन्तु गुरुदेव आगे स्पष्ट करते हैं—"हमारी दृष्टि आध्यात्मिक अनुभूति के विषय पर केन्द्रित होनी चाहिए, न कि नाक के भौतिक सिरे पर—चाहे वह ऊपर हो या नीचे।" नाक के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करने से मन को कुछ सीमा तक स्थिर रखने और उसे बाह्य विषयों से हटाने में सहायता मिल सकती है, किन्तु इससे अधिक महत्त्व उसे देने की आवश्यकता नहीं है।

"मौने हिडिदु मुद्रे बलिदु" इस पद की व्याख्या करते हुए गुरुदेव कहते हैं कि हठयोग में खेचरी, भूचरी तथा अन्य अनेक मुद्राओं का वर्णन मिलता है, किन्तु इन शारीरिक मुद्राओं को ही वास्तविक मुद्रा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में—मन को एकाग्र करने में सहायक मस्तिष्क और नेत्रों की कोई भी स्थिति ही सच्ची मुद्रा है। उदाहरण के लिए, यदि आप सामने देखकर किसी विशेष रूप का अनुभव करते हैं

और मन उसी पर एकाग्र हो जाता है, तो वही अवस्था वास्तविक मुद्रा है। इसी प्रकार, नाद—अन्तःश्रुत दिव्य ध्वनि—को सुनते हुए मन जिस अवस्था में एकाग्र हो जाता है, वह भी एक सच्ची मुद्रा है। जब तक दिव्य रूप का दर्शन नहीं होता, तब तक दृष्टि को इस प्रकार भीतर की ओर मोड़ना उपयोगी है। किन्तु जब वह रूप प्रकट होने लगे, तब श्री गुरुदेव कहते हैं कि दृष्टि उसी पर स्थिर कर देनी चाहिए। इसलिए वे भूचरी अथवा खेचरी मुद्रा को अत्यधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं मानते।

इसके बाद दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द आते हैं—**न्यास** और **ध्यास**।

न्यास का अर्थ है अपने मन्त्र के अक्षरों को मानसिक रूप से शरीर के विभिन्न अंगों पर स्थापित करना। ध्यास का अर्थ है गहन श्रद्धा, प्रेम और तन्मयता के साथ मन्त्र का जप करना।

अब हम *दोहों* के संदर्भ में वर्णित तीन महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करेंगे।

१. वर्तमान क्षण का महत्त्व

एक आध्यात्मिक साधक को वर्तमान क्षण के अमूल्य महत्त्व को समझना चाहिए। जैसा कि प्रसिद्ध दोहे में कहा गया है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। पल में प्रलय होएगी, बहुरि करेगा कब॥ जो कार्य तुम कल करने का विचार कर रहे हो, उसे आज ही कर लो; और जो आज करने का निश्चय किया है, उसे अभी, इसी क्षण कर डालो। साधक को अपने जीवन का एक भी क्षण तुच्छ अथवा व्यर्थ कार्यों में नष्ट नहीं करना चाहिए। मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है; वह इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि तुम्हारा कार्य पूरा हुआ है या नहीं।

श्री गुरुदेव कहते हैं—"इस जीवन में हमें प्राप्त प्रत्येक क्षण का उपयोग आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्तम लाभ प्राप्त करने के लिए करना चाहिए।" अर्थात् जीवन का प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उन्नति का साधन बनना चाहिए। जो साधक वर्तमान क्षण के महत्त्व को पहचान लेता है और उसे साधना में लगाता है, वही अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

२. श्वास का महत्त्व

उसी प्रकार एक आध्यात्मिक साधक को अपने एक भी श्वास को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए, क्योंकि इस बात की कोई निश्चितता नहीं है कि अगला श्वास आएगा ही। श्री समर्थ कहते हैं कि छींक, जम्हाई, खाँसी अथवा हिचकी के समय भी साधक को

अमूल्य समय व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। यहाँ तक कि पलक झपकने में लगने वाला क्षण भी खोया हुआ क्षण है।

"श्वास-श्वास पर हरि भजो।"

(प्रत्येक श्वास के साथ भगवान का स्मरण और भजन करो।)

श्री कबीर कहते हैं कि मनकों की माला का उपयोग करने के स्थान पर हमें अपने श्वासों की माला बनानी चाहिए। लकड़ी, मूँगे अथवा अन्य मनकों की माला में मनकों को पिरोने के लिए बीच-बीच में गाँठें लगानी पड़ती हैं और उसमें *मेरु* मनका भी होता है। किन्तु श्वासों की माला में न तो ऐसी गाँठें होती हैं और न ही कोई *मेरु* मनका, जो प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न करे।

ये गाँठें ध्यान में रुकावट उत्पन्न कर सकती हैं, और *मेरु* मनका मन को गिनती की ओर मोड़ सकता है। श्री गुरुदेव कहते हैं—

"ईश्वर अगणनीय है।" परमात्मा संख्या से परे है। केवल अधिक संख्या में नाम-जप करने से आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। आवश्यक है—"हृदय की गुणवत्ता और तीव्रता।"

अर्थात् हृदय की गहन तड़प, प्रेम और भक्ति-भाव। इसलिए मनकों की माला के स्थान पर श्वासों की माला के साथ नाम-जप करना चाहिए। परम सत्य का तीव्र लालसा और प्रेमपूर्वक ध्यान करो; तब तुम्हें अनुभव होगा कि तुम स्वयं वही परम सत्य हो। इस प्रकार साधक परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है।

३. मौन और ध्यान

तीसरा और अंतिम महत्त्वपूर्ण विषय है मौन और ध्यान। ध्यान का अभ्यास मौन में किया जाना चाहिए। भगवान का नाम ऊँचे स्वर में जपने में विशेष प्रयोजन नहीं है। जो परमात्मा चींटी के पैरों की आहट तक सुन सकता है, क्या वह तुम्हारे अन्तःकरण की गहराइयों से उठने वाली पुकार को नहीं सुनेगा?

कबीर भी आन्तरिक ध्यान पर अत्यन्त बल देते हैं। *"अजर अमर इक नाम है..."* इस पद में कबीर कहते हैं—**"बिनहि मुख से जप करो, नहीं जीभ डुलाओ।"** अर्थात् होंठों और जीभ को हिलाए बिना नाम का जप करो।

वेदान्त के अनुसार वाणी के चार स्तर हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। साधक को वाणी के इन चारों स्तरों से भी आगे जाना होता है। नाम-जप करते समय कण्ठ में स्वाभाविक रूप से एक सूक्ष्म स्पन्दन अनुभव होता है। साधक को उस स्पन्दन

से भी परे जाना चाहिए। किन्तु यह कैसे सम्भव होता है, इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

शारीरिक प्रक्रिया का सार

साधक को स्थिर और सुखद आसन में बैठना चाहिए, दृष्टि को आध्यात्मिक स्वरूप पर स्थिर करना चाहिए और *प्राण* तथा *अपान* को समावस्था में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, साधक को प्रेमपूर्वक नाम-जप करना चाहिए—श्वास भीतर लेते समय जितनी बार नाम का स्मरण करे, उतनी ही बार श्वास बाहर छोड़ते समय भी करे।

उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि एक भी श्वास व्यर्थ न जाने पाए। मनकों की माला के स्थान पर श्वास को ही माला बनाना अधिक श्रेष्ठ है। साधक को प्रत्येक क्षण के महत्त्व को समझना चाहिए और वर्तमान क्षण को कभी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

ध्यान का अभ्यास सदैव मौन में किया जाना चाहिए।

२. मानसिक प्रक्रिया:

यह साधना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। श्री गुरुदेव कहते हैं कि इसके बिना आध्यात्मिक अनुभूति की अल्पतम मात्रा भी प्राप्त नहीं हो सकती।

१. यज्ञ

यहाँ एक विशेष प्रकार के *यज्ञ* का निर्देश किया गया है। यह यज्ञ क्या है? भगवद्गीता कहती है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
(भगवद्गीता ४.२६–२७)

भगवद्गीता सिखाती है कि शब्द आदि विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में अर्पित करना चाहिए; फिर इन्द्रियों को *प्राण* में, *प्राण* को मन में, और मन को आत्मा में समर्पित करना चाहिए। यज्ञ की यह प्रक्रिया प्रत्येक क्रमिक अवस्था में निरन्तर चलती रहनी चाहिए। जब साधक इन सभी अवस्थाओं को पार कर लेता है और केवल आत्मा

का ही राज्य शेष रह जाता है, तब कहा जा सकता है कि उसने आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव प्राप्त कर लिया है।

२. काम-विजय (कामना और विषयासक्ति पर विजय)

काम—अर्थात् विषय-वासना अथवा इन्द्रिय-सुख की इच्छा—को हमारे सबसे बड़े शत्रुओं में से एक समझना चाहिए। काम अथवा विषयों की लालसा पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। किन्तु जो साधक इसमें सफल हो जाता है, उसके लिए आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ना बहुत सरल हो जाता है।

भगवद्गीता के अनुसार *काम* के तीन मुख्य आसन हैं—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि।

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।"

(भगवद्गीता ३.४०)

गीता काम से उत्पन्न होने वाली घटनाओं की श्रृंखला का भी वर्णन करती है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(भगवद्गीता २.६२–६३)

अर्थात् विषयों का चिंतन करने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है; आसक्ति से कामना जन्म लेती है; कामना से क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोध से मोह, मोह से स्मृति का भ्रम, स्मृति-भ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से मनुष्य का पतन हो जाता है।

अतः सर्वप्रथम *काम* पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। जैसे दर्पण धूल से ढक जाता है, अग्नि धुएँ से आच्छादित हो जाती है और गर्भ भ्रूण को आवृत कर लेता है, उसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक चेतना कामना और विषयासक्ति से आच्छादित रहती है। इस आवरण को हटाना आवश्यक है; तभी आत्मा का वास्तविक प्रकाश प्रकट हो सकता है।

३. एकाग्रता

जब साधक ध्यान के लिए बैठता है, तब मन की स्थिति का श्री कबीर बड़े विनोदी ढंग से वर्णन करते हैं—**माला तो कर में फिरे, जीह फिरे मुख माहीं।मनुवा तो दस दिशा फिरे, यह तो सुमिरन नाहीं॥**

जीभ मुख के भीतर चलती रहती है, हाथ माला फेरता रहता है, और मन दसों दिशाओं में भटकता रहता है। कबीर इसे मिथ्या ध्यान कहते हैं।

भगवद्गीता भी यही बात कहती है—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥(भगवद्गीता ३.६)

अर्थात् जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को तो रोक लेता है, किन्तु मन से विषयों का चिंतन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् आत्म-प्रवंचना करने वाला कहलाता है।

फिर भी साधना के प्रारम्भिक चरण में कम-से-कम इस सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक है—"मन गया तो जाने दो, मत जाने दो शरीर।" यदि मन भटकता है तो भटकने दो, किन्तु शरीर को भटकने मत दो। शारीरिक अनुशासन पहले आना चाहिए। उसके बाद साधक को धीरे-धीरे भटकते हुए मन को वापस आत्मा की ओर लाना सीखना चाहिए।

भगवद्गीता कहती है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(भगवद्गीता ६.२६)

अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जिस-जिस विषय की ओर भागे, साधक को उसे वहाँ से हटाकर बार-बार आत्मा में ही स्थिर करना चाहिए।

श्री बसवेश्वर कहते हैं—

"जैसे चकोर का एकमात्र लक्ष्य चन्द्रमा का प्रकाश प्राप्त करना होता है, कमल का एकमात्र लक्ष्य सूर्य के उदय की प्रतीक्षा करना होता है, और भ्रमर का एकमात्र उद्देश्य सुगन्धित पुष्प से मधु प्राप्त करना होता है, वैसे ही मेरा भी केवल एक ही लक्ष्य है—मैं परमेश्वर का दर्शन कैसे प्राप्त करूँ?"

सफल ध्यान की तीसरी अनिवार्य शर्त यह है कि मन पूर्णतः एक ही विषय—परमात्मा—से भर जाए। साधक को अन्य किसी भी विचार अथवा विषय को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। मन में केवल भगवान के लिए ही स्थान होना चाहिए।

श्री गुरुदेव कहते हैं कि आध्यात्मिक ध्यान तभी फलदायी होता है जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है। वे यह भी बताते हैं कि इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है—"भटकते हुए मन को निरन्तर भीतर की ओर खींचते रहना चाहिए, जब तक कि वह अन्तर्मुख होकर स्थिर न हो जाए।"

ऐसी एकाग्रता की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए श्री गुरुदेव जिस पद का उल्लेख करते हैं, वह है—**"या विधि मन को लगावे, मन को लगावे प्रभु-पद पावे..."**

मन इतना अधिक एकाग्र हो जाना चाहिए कि साधक को ऐसा अनुभव होने लगे मानो परमात्मा उसके सामने प्रत्यक्ष खड़े हों।

इस पद में ऐसी एकाग्रता की तीव्रता को समझाने के लिए तीन उदाहरण दिए गए हैं—

1. रस्सी पर चलने वाला नट, जिसकी सम्पूर्ण चेतना केवल संतुलन बनाए रखने में लगी रहती है।
2. वह सर्प, जो ओस की बूँदों का स्वाद लेने के लिए अपनी जीभ निकालते हुए भी अपने मस्तक पर स्थित मणि पर से ध्यान नहीं हटाता।
3. सती का उदाहरण, जिसकी सम्पूर्ण चेतना एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित रहती है।

सन्त कबीर कहते हैं कि हमारी एकाग्रता भी इन तीनों के समान अचल और अखण्ड होनी चाहिए। इसके आगे, कन्नड़ संत-परम्परा के पद "गुरिया ओगडेनो ब्रह्मके" में कहा गया है—"अविचल मन से ब्रह्म पर निशाना साधो।"

इसके लिए एक अनिवार्य शर्त है—"शरीर-बोध का विस्मरण हो जाना चाहिए।"

शरीर को एक बन्दूक के समान समझा जा सकता है और सद्गुरु द्वारा प्रदत्त नाम को उस बारूद के समान जिससे वह भरी जाती है। जब सारी तैयारी पूर्ण हो जाए, तब साधक को पूर्ण सजगता और स्थिरता के साथ ध्यान में बैठना चाहिए।

जिस प्रकार लक्ष्य साधते समय बन्दूक को अचल रखा जाता है, उसी प्रकार मन को भी पूर्णतः स्थिर रखकर ब्रह्म की ओर केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रकार विविध वासनाएँ और नकारात्मक प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे नष्ट होने लगती हैं और आध्यात्मिक अनुभूति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

अन्त में भगवद्गीता यह सिखाती है कि इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त हो जाने के बाद भी विषयों के प्रति सूक्ष्म आकर्षण और आसक्ति पूर्णतः समाप्त नहीं होती। गीता आगे कहती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(भगवद्गीता २.५९)

अर्थात् विषय तो संयम के द्वारा दूर हो सकते हैं, किन्तु उनके प्रति जो सूक्ष्म रस या आकर्षण है, वह बना रहता है। वह आकर्षण केवल परम सत्य के प्रत्यक्ष अनुभव से ही समाप्त होता है।

अतः साधक को एकाग्र ध्यान से उत्पन्न होने वाले प्रातिभ अनुभवों (अन्तःप्रकाशजन्य आध्यात्मिक अनुभूतियों) के प्रति सदैव सजग रहना चाहिए और उनका गम्भीर मनन करना चाहिए। ऐसा करने से विषयों के प्रति शेष आकर्षण धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है। वास्तव में यही उन आध्यात्मिक अनुभूतियों का उद्देश्य और उनका रूपान्तरणकारी कार्य है।

मानसिक प्रक्रिया का सार

इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर रखना चाहिए; उन्हें इधर-उधर भटकने नहीं देना चाहिए। ध्यान को श्वास पर केन्द्रित करना चाहिए और श्वास को मन को एकत्रित तथा स्थिर करने के साधन के रूप में उपयोग करना चाहिए। अंततः मन को परमात्मा में ही स्थिर कर देना चाहिए।

साधक को *काम*—अर्थात् विषय-वासना और इन्द्रिय-सुख की इच्छा—पर विजय प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए। साधना के प्रारम्भिक चरण में उसे इस सिद्धान्त का पालन करना चाहिए—"मन गया तो जाने दो, मत जाने दो शरीर।"

अर्थात् यदि मन भटकता है तो भटकने दो, किन्तु शरीर को भटकने मत दो।

इसके बाद उस निरन्तर चंचल और भटकते हुए मन को बार-बार भीतर की ओर खींचकर परमात्मा अथवा आत्मस्वरूप में दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। मन को शांत, निर्भय तथा किसी भी प्रकार की तीव्र मानसिक व्याकुलता से मुक्त रखना चाहिए। साधक के मन में केवल एक ही चिंता, एक ही आकांक्षा होनी चाहिए—"मुझे परमेश्वर का दर्शन कब होगा?"

मन पूर्णतः परमात्मा के विचार और परमात्मा के स्वरूप से भर जाना चाहिए। उसके अतिरिक्त किसी अन्य विचार या विषय के लिए उसमें स्थान नहीं रहना चाहिए।

इसके पश्चात् साधक को पूर्ण सजगता, जागरूकता और स्थिरता के साथ ध्यान में बैठना चाहिए। साधना की परिपक्व अवस्था में उसे शरीर-बोध का भी अतिक्रमण कर देना चाहिए, यहाँ तक कि शरीर के अस्तित्व की चेतना भी विलीन हो जाए और केवल परमात्मा का अनुभव शेष रह जाए।

3. नैतिक प्रक्रिया:

ध्यान की सिद्धि के लिए नैतिक प्रक्रिया उतनी ही आवश्यक है जितनी मानसिक प्रक्रिया। श्री गुरुदेव ने इस प्रक्रिया के चार महत्वपूर्ण पक्षों का उल्लेख किया है।

1. साक्षात्कार के लक्ष्य की सक्रिय खोज

यहाँ निष्क्रियता के लिए कोई स्थान नहीं है। साधक को न तो असावधान होना चाहिए और न ही आत्मसंतोष अथवा मानसिक तुष्टि में डूबना चाहिए। उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि, "सब कुछ अपने-आप हो जाएगा" या "उचित समय आने पर सब कुछ घटित होगा।" साधक को सदैव सजग रहना चाहिए और सचेत तथा निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए।

कबीर कहते हैं— **"जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ॥"**

जो वास्तव में खोज करते हैं, वही अपने प्रयासों का फल प्राप्त करते हैं। बिना दस्तक दिए कोई द्वार नहीं खुलता। उपनिषद् भी घोषणा करते हैं— **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"** अर्थात् यह आत्मा उस व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती जिसमें शक्ति और गंभीर पुरुषार्थ का अभाव हो। समुद्र की गहराइयों में पड़े मोती बिना गहरे गोते लगाए प्राप्त नहीं किए जा सकते। इसी प्रकार गुजराती कवि प्रीतम कहते हैं— **"हरि नो मारग छे शूरानो, नहि कायरनुं काम जोणे।"** हरि का मार्ग वीरों का मार्ग है; यह कायरों के लिए नहीं है।

जो लोग केवल समुद्र के किनारे खड़े रहते हैं, उन्हें सीपियाँ तो मिल सकती हैं, परन्तु मोती नहीं। यदि साधक सतर्कता और निरंतरता के साथ प्रयास नहीं करता, तो लक्ष्य उसकी पहुँच से बाहर ही बना रहेगा। भगवान ने अपनी ओर से अपना हाथ हमारी ओर बढ़ा दिया है; हमें भी उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ना चाहिए। अन्यथा हमारी पकड़ ढीली पड़ सकती है और वह दिव्य अवसर हमारे हाथ से निकल सकता है।

2. संसार के उपहास की परवाह न करना

एक अन्य गुण, जिसे आध्यात्मिक साधक को विकसित करना चाहिए, वह है — "संसार के उपहास की परवाह न करना।" साधक को दूसरों की हँसी, उपहास, आलोचना अथवा ईर्ष्या से अप्रभावित रहना चाहिए। आधुनिक संसार में भगवान की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला ध्यान संभव है कि लोगों की दृष्टि में विशेष मान्यता या प्रशंसा न पाए। फिर भी साधक को दृढ़ता और निश्चय के साथ अपनी आंतरिक खोज जारी रखनी चाहिए।

3. मन की प्रत्येक अवस्था में भगवान का ध्यान

श्री गुरुदेव के अनुसार तीसरा गुण, जिसे आध्यात्मिक साधक को विकसित करना चाहिए, वह है — मन की किसी भी अवस्था में भगवान का ध्यान करने की क्षमता। सुख और दुःख, दोनों अवस्थाओं में भगवान का स्मरण करना चाहिए। तुलसीदास जी कहते हैं—

"तुलसी ऐसे नाम को, रीझि भजो या खीझि।खेत पड़े बीया जमे, उलटी पड़े या सीझि॥" जिस प्रकार खेत में बोया गया बीज चाहे किसी भी दिशा में गिरे, वह अंकुरित हो जाता है; उसी प्रकार भगवान के नाम का स्मरण जिस भी मनःस्थिति में किया जाए, वह अंततः फलदायक होता है। एक अन्य दोहे में श्री तुलसीदास कहते हैं कि नाम चाहे श्रद्धा के साथ लिया जाए, बिना श्रद्धा के लिया जाए, आलस्यवश लिया जाए, अथवा विरोध अथवा द्वेष की भावना से ही क्यों न लिया जाए, वह अंततः शुभ फल ही प्रदान करता है। इस प्रकार शिव ने श्रद्धा से नाम का स्मरण किया, वाल्मीकि ने बिना श्रद्धा के, कुम्भकर्ण ने आलस्यवश, और रावण ने द्वेषवश; फिर भी अंततः सभी को सफलता प्राप्त हुई।

श्री गुरुदेव कहते हैं—"नाम-स्मरण जैसी शुभ साधनाएँ मस्तिष्क में अंकित हो जाती हैं, और जब उपयुक्त समय आता है, तब वे अनिवार्य रूप से अपना फल प्रदान करती हैं।"

4. अहंकार या भगवान — एक को चुनिए

आध्यात्मिक साधक के लिए आवश्यक चौथा गुण है **अहंकार तथा सांसारिक प्रतिष्ठा की इच्छा का त्याग**। गुरुदेव के शब्दों में—

"अहंकार या भगवान — एक को चुनिए।"

रहीम कहते हैं—

"रहिमन गली है साँकरी, दूजो न ठहराहिं।आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपु नाहिं॥"
"पिया चाहे प्रेम-रस, राखा चाहे मान।एक म्यान में दो खड़ग, देखा सुना न कान॥"

यह गली अत्यन्त सँकरी है; इसमें दो के लिए स्थान नहीं है। यदि अहंकार उपस्थित है, तो भगवान नहीं हैं; और जब भगवान उपस्थित हैं, तब अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

मनुष्य या तो दिव्य प्रेम-रस की कामना कर सकता है अथवा अपने मान और प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखना चाह सकता है। एक ही म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार, जब तक हम अहंकार का पूर्णतः परित्याग नहीं करते, तब तक

आध्यात्मिक जीवन में वास्तविक प्रगति संभव नहीं है।

5. भगवान की उपस्थिति में ध्यान:

अन्तिम गुण यह है कि साधक को **भगवान की उपस्थिति में ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।** यह आध्यात्मिक मार्ग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है। श्री कबीर अपने एक दोहे में कहते हैं—**कबीरा धारा अगम की, सद्गुरु दई लखाय ।उलटी ताही सुमिरन करौ, स्वामी संग मिलाय ॥**

यहाँ *धारा* से अभिप्राय उस **प्रकाश-धारा** से है जिसे सद्गुरु शिष्य को दिखाते हैं। इस दोहे का एक अर्थ यह है कि साधक को इस प्रकाश-धारा का सहारा लेकर, भगवान की उपस्थिति को ध्यान का आधार बनाते हुए ध्यान करना चाहिए।

संत बहिरोनी भी कहते हैं कि जब तक ध्यान भगवान की उपस्थिति में नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं करता। **"सन्मुख साँवरा खड़ा हो..."** — अर्थात् भगवान स्वयं साधक के सम्मुख खड़े हैं।

जिस प्रकार **रूप-अनुसंधान** के द्वारा भगवान के दिव्य स्वरूप का आन्तरिक स्मरण बनाए रखते हुए ध्यान किया जा सकता है, उसी प्रकार **नाद-अनुसंधान** के द्वारा आन्तरिक नाद का अनुसरण करते हुए भी ध्यान किया जा सकता है। *नाद-अनुसंधान* द्वारा किया जाने वाला ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अपने पद **"अपने घट दियना बारु रे"** में श्री कबीर साधक को दो प्रकार के अनुशासन बताते हैं—एक सकारात्मक और दूसरा नकारात्मक।

नकारात्मक अनुशासन के रूप में वे कहते हैं कि हमें समय-समय पर **"संसार को भूलने"** की आदत विकसित करनी चाहिए। कुछ समय के लिए हमें सचेत रूप से संसार से हटकर भीतर की ओर मुड़ना चाहिए।

सकारात्मक अनुशासन के रूप में वे कहते हैं कि लक्ष्य को निरन्तर अपनी दृष्टि के सामने रखना चाहिए और उसकी ओर स्थिर गति से आगे बढ़ते रहना चाहिए।

जब ऐसा किया जाता है, तब क्या होता है? **"जगमग ज्योत निहार मंदिर में।"** साधक दिव्य प्रकाश की झलक पाने लगता है। भगवान की उपस्थिति और उनकी कृपा अनुभव होने लगती है। यह आध्यात्मिक मार्ग पर आगे की प्रगति का संकेत है।

जब वह दिव्य ज्योति प्रकट होने लगे, तब हमें अपना सम्पूर्ण **तन, मन और धन** उसके प्रति समर्पित कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को उस दिव्य प्रकाश के पोषण और उसकी तीव्रता बढ़ाने के लिए समर्पित कर देना चाहिए। इसी कारण श्री कबीर कहते हैं कि **नाम स्वयं भगवान और भक्त के मिलन का साधन**

बन जाता है।

कन्नड़ रहस्यवादी परम्परा में **"बिल्व पत्रद धरिसि बेकन्ना"** नामक वचन में *बिल्व-पत्र* को दोनों नेत्रों का प्रतीक माना गया है। साधक यदि अपनी दृष्टि को नासिका-अग्र पर स्थिर करके ध्यान का अभ्यास करे, तो सद्गुरु की कृपा से उसे आन्तरिक प्रकाश का दर्शन होने लग सकता है अथवा आन्तरिक *नाद* सुनाई देने लग सकता है।

इसके बाद साधक को निर्देश दिया जाता है कि वह इन अनुभवों में तल्लीन रहे और ध्यान को आगे बढ़ाता रहे। तब क्या हो सकता है? **"भगवान के मन में आपके सम्मुख प्रकट होने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है।"**अर्थात् भगवान स्वयं आपके सामने प्रकट होने का निश्चय कर सकते हैं।किन्तु यदि वे प्रकट होकर चले जाएँ, तो क्या करना चाहिए?

हमें उनका दर्शन कोमलता और निरन्तरता के साथ करते रहना चाहिए। **"उन्हें जाने मत दीजिए।""धरुनी केशवा आणा भावबळे।"**

इस प्रकार भगवान का दर्शन प्राप्त हो सकता है, जिसके प्रभाव से समस्त घोर पाप नष्ट हो जाते हैं।फिर क्या होता है?

आप इस संसार में **नित्य-पवित्रता के मूर्त स्वरूप** के रूप में विचरण करने योग्य बन जाते हैं। आप स्वयं महान पवित्रकर्ता बन जाते हैं—अपने को भी पवित्र करते हैं और इस नश्वर संसार में अन्य लोगों को भी पवित्र बनाने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं।

हम प्रतिदिन आरती में गाते हैं—"सद्गुरुचेनि संगे ऐसी आरती केली,निवृत्ती आनंदात तेथे वृत्ती निमाली।"

श्री गुरुदेव ने केवल श्वास के साथ नाम-जप करते हुए किए जाने वाले ध्यान को **"साक्षात्कार-पूर्व ध्यान"** कहा है, जबकि ऊपर वर्णित प्रकार के ध्यान को **"साक्षात्कार-उपरान्त ध्यान"** कहा है।

नैतिक प्रक्रिया का सार — भगवान की सक्रिय खोज

साधक को भगवान की सक्रिय खोज में निरंतर संलग्न रहना चाहिए, लोगों के कहने-सुनने की परवाह नहीं करनी चाहिए, मन की प्रत्येक अवस्था में ध्यान का अभ्यास करना चाहिए, अहंकार और सांसारिक प्रतिष्ठा की इच्छा का त्याग करना चाहिए, तथा भगवान की उपस्थिति में ध्यान करना चाहिए।

भावात्मक पक्ष — ध्यान में भाव और भक्ति का स्थान

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। अब तक हमने आध्यात्मिक मार्ग के सभी प्रमुख

चरणों पर विचार किया है—सद्गुरु से प्राप्त कृपा, नाम के सहारे किया जाने वाला ध्यान, तथा ध्यान के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आयाम। इन सभी चरणों का मुकुटमणि है साधक की भगवान के साक्षात्कार के लिए तीव्र तड़प और उत्कट अभिलाषा।

श्री गुरुदेव, भगवद्गीता पर अपनी पुस्तक में कहते हैं—

> केवल नासिका-अग्र को देखते रहने, या श्वास को नियंत्रित करने, अथवा मन को सभी इन्द्रियजन्य और काम-सम्बन्धी विचारों से खाली करने का क्या लाभ है? जब तक भगवान के प्रति सच्ची भक्ति, अर्थात् भाव या भक्ति, हृदय में उत्पन्न नहीं होती, तब तक इन सबका कोई वास्तविक उपयोग नहीं है।
>
> जब तक साधक के भीतर भगवान के प्रति अनन्य और पूर्ण समर्पित भक्ति, तथा प्रेम और विरह से भरी एकाग्र भावना उत्पन्न नहीं होती, तब तक भगवान की प्राप्ति की दृष्टि से अन्य कोई साधना विशेष मूल्य नहीं रखती।
>
> भाव से ओतप्रोत सफल ध्यान के लिए आवश्यक तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर समन्वय भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥"

(भगवद्गीता 8.14)

इस श्लोक में तीन बातें कही गई हैं—

1. अनन्य-चेतस् — एकनिष्ठ भक्ति

हृदय में भगवान के प्रति अनन्य और एकाग्र भक्ति का स्वतः उदय होना चाहिए। मन में किसी अन्य वस्तु या विषय के प्रति प्रतिस्पर्धी आकर्षण या आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

2. नित्यशः — निरंतर स्मरण

साधना ऐसी हो कि एक भी क्षण व्यर्थ न जाने पाए। भगवान का स्मरण निरंतर बना रहना चाहिए।

3. नित्ययुक्तत्व — अखण्ड निरंतरता

ध्यान का अभ्यास दिन-प्रतिदिन, महीने-दर-महीने और वर्ष-दर-वर्ष निरंतर चलता रहना चाहिए, जीवन के अंतिम क्षण तक।

श्री पतंजलि ने भी अपने *योगसूत्रों* में इन्हीं तीन सिद्धान्तों को व्यक्त किया है—

"स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः ।"

अर्थात् साधना तब दृढ़ आधार प्राप्त करती है जब उसका अभ्यास दीर्घकाल तक, बिना किसी व्यवधान के, तथा श्रद्धा और गंभीरता के साथ किया जाता है।

जब ये सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, तब आध्यात्मिक मार्ग में सफलता निश्चित हो जाती है।

भाव अथवा भक्ति ही साक्षात्कार की सबसे मूलभूत और अनिवार्य आवश्यकता है।

जब तक हमारी भक्ति पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना को जन्म नहीं देती, और जब तक हम स्वयं को पूर्णतः भगवान के हाथों में यह कहकर नहीं सौंप देते कि—

"भगवान की इच्छा से जो कुछ होना है, वही हो,"

तब तक आध्यात्मिक मार्ग पर कोई महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

ध्यान-साधना के ये सभी चरण पूर्ण हो सकते हैं; फिर भी श्री गुरुदेव जिस "कुछ और" (Plus Something) की बात करते हैं, उसके बिना ध्यान अपनी चरम सिद्धि तक नहीं पहुँच सकता। वह "कुछ और" है—भगवान की कृपा।

भगवद्गीता में वर्णित ईश्वरीय कृपा के तीन चरण

प्रथम चरण

भगवान साधक को बुद्धियोग प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, साधक की बुद्धि धीरे-धीरे इस दृढ़ विश्वास की ओर उन्मुख होने लगती है कि उसे स्वयं को पूर्णतः परमेश्वर की उपासना में समर्पित कर देना चाहिए।

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"

(भगवद्गीता 10.10)

द्वितीय चरण

भगवान साधक के भीतर ज्ञान-दीप प्रज्वलित करते हैं। दूसरे शब्दों में, साधक को ऐसे अनुभव होने लगते हैं जो सामान्य इन्द्रिय-बोध से परे होते हैं।

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥"

(भगवद्गीता 10.11)

तृतीय चरण

साधक शाश्वत और परम शान्ति को प्राप्त करता है।

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥"
(भगवद्गीता 18.62)

श्री गुरुदेव कहते हैं—

"भगवान को स्पर्शित होना चाहिए; और जब वे स्पर्शित होते हैं, तभी वे अपनी कृपा से संसार को भी स्पर्शित करते हैं।"

अर्थात् हमारी भक्ति ऐसी होनी चाहिए कि वह भगवान के हृदय को स्पंदित कर दे। और जब उनका हृदय स्पंदित होता है, तब वे अपनी कृपा द्वारा सम्पूर्ण विश्व को गतिमान कर देते हैं।

>>> ***अगले पेज पर***

आध्यात्मिक साधना का मार्ग

सद्गुरु नाम

↓

ध्यान-प्रक्रिया

↓

बौद्धिक चिंतन तर्कशील एवं बुद्धिवादी साधकों के लिए **भगवान के दस गुणों का चिंतन**	नैतिक चिंतन **"बारूद"** नैतिक जीवन को महत्त्व देने वाले साधकों के लिए	आध्यात्मिक चिंतन सभी साधकों के लिए, चाहे वे किसी भी आध्यात्मिक स्तर पर हों

↓ ↓

↓

↓ शारीरिक प्रक्रिया *(श्वास का कुछ सीमा तक उपयोग किया जा सकता है।)* 1. आसन 2. श्वास 3. दृष्टि 4. ध्यान का महत्त्व 5. श्वास का महत्त्व 6. मौन में ध्यान	↓ मानसिक प्रक्रिया *(अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; इसके बिना साक्षात्कार की थोड़ी-सी झलक भी सम्भव नहीं है।)* 1. यज्ञ 2. कामना पर विजय 3. एकाग्रता — ◦ मानसिक शान्ति ◦ त्याग ◦ भीतर कोई प्रबल विचार न रहना 4. इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति (रस) को समाप्त करने के लिए ईश्वर-साक्षात्कार	↓ नैतिक प्रक्रिया 1. भगवान की सक्रिय खोज 2. लोग क्या कहते हैं, इसकी परवाह न करना 3. मन की प्रत्येक अवस्था में ध्यान 4. अहंकार का त्याग 5. भगवान की उपस्थिति में ध्यान	↓ भावात्मक पक्ष *(मानसिक प्रक्रिया जितना ही महत्त्वपूर्ण)* 1. अनन्य-चेतस् — एकनिष्ठ भक्ति 2. नित्यशः — निरन्तर स्मरण 3. नित्ययुक्तत्वम् — अखण्ड निरन्तरता 4. श्रद्धापूर्वक नामस्मरण 5. पूर्ण समर्पण	↓ ईश्वरीय कृपा 1. "ददामि बुद्धियोगं तम्" *(मैं उन्हें वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ।)* 2. "तेषामेवानुकम्पार्थम् *(उन पर अनुकम्पा करने के लिए।)* 3. "तत्प्रसादात् परां शान्तिम्" *(उसकी कृपा से परम शान्ति प्राप्त होती है।)*

॥ राजाधिराज सद्गुरुनाथ महाराज की जय ॥

– डॉ. (श्रीमती) अमृता संजीव दात्ये
चिंचवड़, पुणे
Mobile No.: +91 99225 013069

‘वचनामृत’: महाराष्ट्र के संत साहित्य-सागर के अमूल्य रत्न

तैसें अध्यात्मशास्त्रीं यिये । अंतरंगचि अधिकारीये ।
परी लोकु वाक्चातुर्यें । होईल सुखिया ॥
(अध्यात्मशास्त्र में अंतःकरण ही अधिकारी है; परंतु लोगों को वाक्चातुर्य से सुख प्राप्त होगा।” (ज्ञानेश्वरी, ओवी १७५०)
(यह विवेक करने के लिए कि कोई आध्यात्मिक अनुभव सत्य है या असत्य, अपने ही अंतःस्वरूप को अंतिम कसौटी मानना चाहिए। फिर भी, संतों के साहित्य का अध्ययन पाठक को तृप्ति और धन्यता प्रदान करता है, यह तथ्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।)

यह ज्ञानेश्वरी की वही ओवी है, जो परम पूज्य डॉ. गुरुदेव रानडे (पूज्य डॉ. रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे) के आध्यात्मिक ग्रंथों में से एक, वचनामृत, के प्रथम पृष्ठ पर अंकित है। पूज्य गुरुदेव रानडे द्वारा आरम्भ की गई अध्यात्म ग्रंथमाला का उद्देश्य भी यही था कि संतों के साहित्य को अधिकाधिक पाठकों तक पहुँचाया जाए। इन पुस्तकों की प्रस्तावनाओं के सार को, मोटे तौर पर, उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

“इस ग्रंथमाला का मुख्य उद्देश्य महाराष्ट्र के साहित्य के माध्यम से अध्यात्म मार्ग के उदात्त स्वरूप को प्रकट करना और उसकी व्याख्या करना है। संतों के साहित्य का पवित्र कर्तव्य है कि वह आध्यात्मिक जीवन के संबंध में

प्रचलित विभिन्न भ्रांतियों को दूर करे और अध्यात्म मार्ग के वास्तविक स्वरूप को उसकी निर्मलता में उद्घाटित करे।

यह देखा जा सकेगा कि संतों के ग्रंथों में वर्णित अनुभव ऐसे स्वरूप के हैं, जो विवेकशील बुद्धि को संतुष्ट कर सकते हैं। पाश्चात्य और पौर्वात्य दार्शनिकों तथा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त महापुरुषों के विचारों और अनुभवों को ध्यान में रखते हुए, आधुनिक युग के लोगों के लिए आध्यात्मिक महत्त्व का एक ऐसा ग्रंथ लिखने की आवश्यकता है, जिसमें वैज्ञानिक कसौटियों को अपनाया जाए, उन विचारों को अपने अनुभव की कसौटी पर परखा जाए तथा विवेकशील और विश्लेषणात्मक बुद्धि से उनकी समीक्षा की जाए।"

पूज्य गुरुदेव रानडे ने वास्तव में महाराष्ट्र के संतों के साहित्य का अध्ययन १९१४–१५ में ही आरम्भ कर दिया था। उन्होंने ज्ञानेश्वरी और तुकाराम की अभंग गाथा से कुछ चुनिंदा अंशों का संकलन किया था। उस समय, अर्थात् १९१८–१९ में, वे महाविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर कार्यरत थे। अपने अध्ययन और समझ की परख इस क्षेत्र के एक मान्य प्राधिकारी से करवाने की इच्छा से उन्होंने स्वयं चुने हुए इन अंशों को गुरुवर वैकुंठवासी हरि भक्तपरायण विष्णुबुवा जोग महाराज के अवलोकनार्थ भेजा।

श्री जोग महाराज ने उन चुने हुए अंशों को पढ़ा और गुरुदेव के विद्यार्थी होने के साथ-साथ श्री जोग महाराज के शिष्य स्श्री सोनपंत दांडेकर जी की ओर मुड़कर प्रशंसापूर्वक कहा: "अहा! देखो तो सही, तुम्हारे प्राध्यापक ने कितने सुंदर ढंग से इन अंशों का चयन और संकलन किया है!"

१९१९–२० में पूज्य गुरुदेव ने आळंदी में "उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार" विषय पर एक व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान शांत और संयत भाव से, स्पष्ट एवं तार्किक पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत किया गया था। सभा के समापन पर पूज्य विष्णुबुवा जोग महाराज ने गुरुदेव से कहा: "रामभाऊ, मैंने उपनिषदों को अनेक बार पढ़ा है और अनेक लोगों से उनकी व्याख्या भी सुनी है। लेकिन आज आपने जो कुछ बताया है, वह बिल्कुल ही अलग है। मुझे अत्यंत आनंद हुआ है।"

"वैज्ञानिक कसौटियों को अपनाते हुए, अपने अनुभव की कसौटी पर परखते हुए और विवेकशील बुद्धि से उनकी समीक्षा करते हुए..." — इन शब्दों का गहरा महत्त्व है। १९२० में आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के पश्चात् पूज्य गुरुदेव ने अनेक ग्रंथों की

रचना की। इन सभी लेखनों में प्रस्तुत अंतर्दृष्टियाँ और व्याख्याएँ उनके अपने प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव की ठोस नींव पर आधारित हैं।

जैसें डोळ्यां अंजन भेटे । ते वेळीं दृष्टीसी फांटा फुटे ।
मग वास पाहिजे तेथ प्रगटे । महानिधी ॥

— ज्ञानेश्वरी, १.२३

(जिस प्रकार आँखों में अंजन लगाने पर दृष्टि को ऐसी शक्ति प्राप्त होती है कि पृथ्वी की गहराई में छिपे हुए खजाने भी दिखाई देने लगते हैं।)

पूज्य गुरुदेव रानडे स्वयं अनेक वर्षों से आध्यात्मिक अनुभूतियों से अनुगृहीत थे। इसलिए, वे दूसरों द्वारा वर्णित अनुभूतियों के महत्त्व और प्रामाणिकता को असाधारण सूक्ष्मता से परख सकते थे। वे उन वर्णनों के पीछे निहित आंतरिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य को भी समझ सकते थे। अतः, आध्यात्मिक अनुभूतियों का उनका विश्लेषण उनके अपने प्रत्यक्ष अनुभव की सुदृढ़ नींव पर आधारित था।

सन् १९२६ में उन्होंने निम्नलिखित वचनामृत प्रकाशित किए:

1. ज्ञानेश्वर वचनामृत
2. संत वचनामृत
3. तुकाराम वचनामृत
4. रामदास वचनामृत

बाद में, सन् १९५५ में, उन्होंने एकनाथ वचनामृत प्रकाशित किया।

पूज्य गुरुदेव ने इन सभी वचनामृतों का संकलन एक विशिष्ट उद्देश्य और एक विशेष दृष्टिकोण से किया था। फिर भी, संतों के साहित्य की सुंदरता और वैभव उनमें स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। मराठी संत साहित्य के विशाल सागर से उन्होंने ये पाँच अमूल्य रत्न चुनकर निकाले, प्रत्येक अभंग को एक उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण शीर्षक दिया और उन्हें जनसामान्य के हाथों में सौंप दिया।

इन सभी वचनामृतों को पढ़ने पर एक बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती है- पूज्य गुरुदेव रानाडे ने हमें केवल यह नहीं बताया कि अध्ययन कैसे करना चाहिए, बल्कि यह भी दिखाया कि अध्ययन किसका करना चाहिए।

इन चारों वचनामृतों में संबंधित संतों के चुनिंदा अभंगों, ओवियों और श्लोकों को विषयानुसार व्यवस्थित किया गया है तथा उन्हें उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण शीर्षक दिए गए हैं। इससे एक सामान्य पाठक के मन में भी इन गहन रचनाओं के प्रति सहज रुचि और

आनंद उत्पन्न होता है। वस्तुतः, ये वचनामृत मराठी संत साहित्य के विशाल भंडार का मंथन करके निकाला गया ताज़ा नवनीत हैं।

जिस प्रकार इनमें महाराष्ट्र के संतों की वाणी का सार प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार ये इस तथ्य को भी उजागर करते हैं कि आध्यात्मिक मार्ग की मूलभूत विशेषताएँ सभी धर्मों में समान हैं। एक अर्थ में, ये महाराष्ट्र की समृद्ध संत परंपरा का इतिहास भी प्रस्तुत करते हैं- ऐसी संत परंपरा, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का सामंजस्यपूर्ण समन्वय हुआ है।

– विजय आपटे,
मुलुंड
9833743739



"भगवान कौन है और वह कैसा दिखता है?" इस सवाल पूछने वाला ज्ञानहि खुद ईश्वर है! आप सामान्य रूप से अदृश्य शक्ति जिसे ईश्वर माना जाता है वह ज्ञानहि ईश्वर है।
ईश्वर हमारा स्वरूप है ... स्व !!

– श्री निसर्गदत्त महाराज



यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

परमार्थज्ञान यथार्थ कोणी सांगितले असेल तर कृष्णाने.

कृष्ण म्हणतात!

"माझ्या भक्तामुळे मी प्रगट झालो.

भक्ताच्या भक्तीविना मला प्रगट होता येत नाही.

ज्यांनी ज्यांनी भक्ती केली, त्यांना मी माझे सर्वस्व दिले.

जी माझी नांवे आहेत, ती माझ्या भक्तांची आहेत."

सद्‌गुरू श्री निसर्गदत्त महाराज